जाति प्रश्न के विषय में श्री श्यामसुन्दर[1] के विचार: अज्ञानता, बचकानेपन, बौनेपन और मूर्खता की त्रासद कहानी

- **अभिनव**
  (सम्पादक, 'मज़दूर बिगुल')

आलोचना करना एक ज़िम्मेदारी का काम होता है। यदि कोई जिम्मेदारी की बजाय, जल्दबाज़ी से इस काम को अंजाम देने का प्रयास करता है, तो आलोचना करने वाले का ही मखौल बनता है। मुझे 15 जुलाई को ही पता चला कि कामरेड श्यामसुन्दर ने जाति प्रश्न पर हमारी अवस्थिति की आलोचना लिखी है। (लिंक - http://www.mazdoorbigul.net/wp-content/uploads/Shyamsundar-on-caste-question-11-July-2018.pdf) 16 जुलाई को मुझे उनकी आलोचना प्राप्त हुई। हालांकि यह भी ग़ौरतलब है हमें हमारी यह आलोचना सीधे और औपचारिक तौर पर नहीं दी गयी, बल्कि इनकी एक कार्यकर्ता ने हमें इलेक्ट्रॉनिक माध्यम से भेज दी। यह आलोचना हमें 'जनसंघर्ष मंच हरियाणा' द्वारा औपचारिक तौर पर बाकायदा दी जानी चाहिए थी, मगर न जाने उन्होंने क्यों ऐसा नहीं किया! जब एक संगठन दूसरे संगठन की आलोचना करता है, तो या तो उसे अपने मुखपत्र या किसी पत्र-पत्रिका में प्रकाशित करता है, या फिर दूसरे संगठन को बाकायदा देता है। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं किया गया। बहरहाल, मूल बात यह है कि हमें श्यामसुन्दर की यह आलोचना प्राप्त हो गयी। लिहाज़ा, हम इस आलोचना का नुक्ते-दर-नुक्ते और बिन्दुवार जवाब पेश कर रहे हैं।

हमने इस उम्मीद के साथ इस आलोचना को पढ़ना शुरू किया कि इससे सम्भवत: कुछ सीखने को मिलेगा। लेकिन जैसे-जैसे हम आलोचना पढ़ते गये, वैसे-वैसे आश्चर्य से भरते गये कि वामपंथी आन्दोलन में इतने वर्ष बिताने के बावजूद कोई मुसलसल इतनी मूर्खतापूर्ण बातें कैसे लिख सकता है। इस आलोचना में श्यामसुन्दर ने जाति व्यवस्था के इतिहास, हिन्दुत्व विचारधारा के इतिहास और चरित्र, अम्बेडकर के योगदानों और सीमाओं, निषेध का निषेध के बुनियादी द्वन्द्ववादी नियम व उत्सादन की अवधारणा, आर्थिक आधार की अवधारणा और रूसी क्रांति के इतिहास के विषय में अपनी मूर्खता और अज्ञान का जो अद्भुत प्रदर्शन किया है, वह वाकई चकित कर देने वाला है। इन मूर्खताओं के अलावा, हमारी अवस्थिति को तोड़-मरोड़ कर पेश करने का कार्य भी इस आलोचना में लगातार किया गया है। हम इस बात में सन्देह का लाभ श्यामसुन्दर को देने को तैयार हैं कि शायद उनको हमारी अवस्थिति समझ में ही न आयी हो और वह जल्दबाज़ी में आलोचना लिखने बैठ गये हों! इस पूरे उपक्रम में श्यामसुन्दर ने पूरी "समझदारी" दिखाने की कोशिश की है। लेकिन जैसा कि एंगेल्स ने एक फ्रांसीसी लोकोक्ति को उद्धृत करते हुए कहा था, "*La plus belle fille de la France ne peut donner que ce qu'elle a"* जिसका अर्थ है कि फ्रांस की सबसे खूबसूरत लड़की भी केवल वही दे सकती है जो कि उसके पास है (फ्रेडरिक एंगेल्स, *दि कैचवर्ड: "एबोलिशन ऑफ दि*

[1]वैसे तो जनसंघर्ष मंच का यह पत्र फूल सिंह (जनसंघर्ष मंच हरियाणा) की ओर से जारी किया गया है, लेकिन अगर 'अरविन्द ट्रस्ट' का अर्थ 'बिगुल मज़दूर दस्ता' या 'बिगुल वाले' है, जैसा कि इस पत्र में निहित है, तो फूल सिंह का मतलब श्यामसुन्दर है...क्योंकि गंगाधर ही शक्तिमान है!

स्टेट" एण्ड दि जर्मन "फ्रेण्ड्स ऑफ एनार्की") और यह तो ख़ैर श्यामसुन्दर हैं! वह मूर्ख सबसे ऊबाऊ होता है, जो अपने आपको विलक्षण प्रतिभा का धनी मानता है।

हम इस जवाब में बिन्दुवार और सिलसिलेवार श्यामसुन्दर के पत्र में प्रस्तुत तमाम अज्ञानताओं और मूर्खताओं को अनावृत्त करेंगे। इस प्रक्रिया में निश्चित तौर पर यह जवाब लम्बा हो जायेगा क्योंकि मूर्खताएं करने में कम पन्ने काले करने पड़ते हैं, लेकिन मूर्खताओं का खण्डन करने के लिए ज्यादा! इन मूर्खताओं के अनावरण के साथ आप समझ जाएंगे कि मार्क्स ने क्यों कहा था, "अज्ञान एक राक्षसी शक्ति है और हमें भय है कि आने वाले समय में यह भयंकर त्रासदियों का कारण बनेगा।" यह भूमिका हमने सिर्फ इसलिए दी ताकि पाठक पहले से सुसूचित रहें कि उनका साबका किस चीज़ से पड़ने वाला है। आइये अब अपने नुक्तेवार जवाब पर आते हैं।

अपने पत्र के पहले हिस्से में श्यामसुन्दर ने आज के भारत में जातिगत दमन-उत्पीड़न की घटनाओं के ब्यौरे, हिन्दू धर्म, हिन्दुत्व, जाति व्यवस्था के उद्गम और विकास, जाति व्यवस्था पर औपनिवेशिक सत्ता के प्रभाव, डा. अम्बेडकर के जाति-विरोधी आन्दोलन, गांधी और कांग्रेस की भूमिका के विषय में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। जवाब का पूरा दूसरा हिस्सा हमारी आलोचना पर खर्च किया गया है, जिसके लिए हमारे पास 'विचित्र रूप से अज्ञानतापूर्ण' के अलावा और कोई विशेषण नहीं है। श्यामसुन्दर द्वारा हमारी आलोचना के विषय में हम अपने जवाब के दूसरे हिस्से में आएंगे। पहले हम भारतीय इतिहास के विषय में सकारात्मक रूप से प्रस्तुत श्यामसुन्दर के विचारों की समीक्षा करेंगे क्योंकि हमारी आलोचना करते वक्त श्यामसुन्दर ने इतिहास के विषय में अपने इन्हीं मूर्खतापूर्ण विचारों का प्रयोग किया है।

इतिहास के इन तमाम मुद्दों पर श्यामसुन्दर के विचार पढ़कर एकबारगी आपको मन करेगा कि आप भारतीय इतिहास की कुछ अच्छी पुस्तकें उपहार के रूप में उनको भिजवा दें। यह देख कर ताज्जुब होता है कि वामपंथी आन्दोलन में इतने वर्ष बिताने के बाद कोई अपने ही देश के इतिहास के विषय में इतनी अज्ञानतापूर्ण बातें लिख सकता है। हम उनके पत्र में लिखी गयी इतिहास-सम्बन्धी हरेक ग़लती का खण्डन नहीं कर सकते, क्योंकि उसके लिए एक पुस्तक लिखनी पड़ेगी, इसलिए हम उनकी इतिहास-सम्बन्धी प्रातिनिधिक ग़लतियों को चुन रहे हैं।

I. भारतीय इतिहास के विषय में श्यामसुन्दर का (अ)ज्ञान प्रदर्शन

1. हिन्दुत्व विचारधारा व हिन्दू धर्म के इतिहास के विषय में

पहले हम श्यामसुन्दर की आलोचना के पहले हिस्से में पेश कुछ साधारण ग़लतियों की ओर इंगित करेंगे और उसके बाद हिन्दू धर्म और हिन्दुत्व के विषय में और साथ ही गांधी और कांग्रेस पार्टी के हिन्दुत्व से रिश्ते पर श्यामसुन्दर के विचित्र विचारों की समीक्षा करेंगे।

दीनदयाल उपाध्याय के 'एकात्म मानववाद' के विषय में श्यामसुन्दर लिखते हैं:

"असल में *यह एकात्म मानववाद का दर्शन उपनिषदों में वर्णित वेदान्त दर्शन* है जिसे अंतिम रूप 9वीं शताब्दी में आदि शंकराचार्य द्वारा दिया गया था, जिसने भारत में चार पीठों की स्थापना भी की थी। शंकराचार्य की भी क्या विडंबना है! उनकी कथनी और करनी में कितना बड़ा विरोधाभास है। *एक तरफ तो उन्होंने 'एकात्म मानववाद' की बात की* और दूसरी तरफ उस *मनुस्मृति* की भी प्रशंसा की जो घोर सामाजिक असमानता यानी ब्राह्मणवादी जाति व्यवस्था की रक्षा का संविधान थी। आज भी कथनी करनी का यह दोगलापन ज्यों का त्यों बना हुआ है। एक तरफ

तो आरएसएस व भाजपा दीन दयाल उपाध्याय के 'एकात्म मानववाद' का ढोल पीटते हैं और दूसरी तरफ उस भगवद्गीता को राष्ट्रीय ग्रंथ के रूप में मान्यता दिए जाने और उसे पाठ्यक्रमों में लागू किये जाने के इरादे बना रहे हैं जिस भगवद्गीता में 'भगवान' श्रीकृष्ण घोषित करते हैं कि ब्राह्मणवादी व्यवस्था के चार वर्णों की रचना उन्होंने ही की थी।" (ज़ोर हमारा)

हमने यह लम्बा उद्धरण इसलिए पेश किया ताकि इसमें अन्तर्निहित मूर्खता को पूरी तरह से प्रदर्शित किया जा सके। इस उद्धरण से यह साफ तौर पर दिख रहा है कि श्यामसुन्दर न तो आदि शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन के विषय में जानते हैं और न ही दीनदयाल उपाध्याय के 'एकात्म मानववाद' के बारे में। बेहतर होता कि वे इन दोनों ही विचारसरणियों के विषय में मूल स्रोतों को पढ़कर लिखते। पहली बात तो यह है कि दीनदयाल उपाध्याय के एकात्म मानववाद का सीधे तौर पर आदि शंकराचार्य के अद्वैतवादी वेदान्त दर्शन से कोई रिश्ता नहीं है, हालांकि खुद उपाध्याय यह दावा करते हैं कि उनके दर्शन के मूल आदि शंकर के अद्वैत दर्शन में ही हैं। सिर्फ शरीर, मस्तिष्क, बुद्धि और आत्मा की प्रतिपूरकता की बात करने से उपाध्याय का दर्शन आदि शंकर का अद्वैतवादी दर्शन नहीं हो जाता है। शंकराचार्य का अद्वैतवादी वेदान्त दर्शन भारतीय दर्शन परम्पराओं में मौजूद भौतिकवादी धाराओं का प्रतिकार करता था। यह मूलत: बुद्ध के बाद के दौर के महायान बौद्ध दर्शन से काफी-कुछ उधार लेता था, जो कि एक धुर भाववादी दर्शन था। शंकराचार्य ने न सिर्फ महायान बौद्ध दर्शन से तमाम किस्म के भाववादी, रहस्यवादी और तर्करोधी तत्व उधार लिए बल्कि उसके मठों की संरचना भी उधार ली। जिन चार मठों की स्थापना आदि शंकर ने की वे वास्तव में महायान बौद्ध मठों की तर्ज़ पर ही बने हैं। इस दर्शन में कोई मानववाद नहीं था और न ही आदि शंकर का ऐसा कोई दावा था। वास्तव में, उपाध्याय द्वारा इस दर्शन को उनके एकात्म मानववाद का स्रोत बताने का देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने इसी वजह से इशारों में मज़ाक उड़ाया है (देखें, 'भारतीय दर्शन में क्या जीवित क्या मृत')। लेकिन श्यामसुन्दर जैसे विकीपीडिया वामपंथी यह नहीं समझते कि उपाध्याय द्वारा दावा किये जाने से उनके एकात्म मानववाद का आदि शंकर के अद्वैत वेदान्ती दर्शन से कोई सीधा रिश्ता नहीं बन जाता है। महज़ इन दोनों ही विचारसरणियों (अगर उपाध्याय के एकात्म मानववाद को कोई अलग विचारसरणि कहा जाय) के जातिवादी व ब्राह्मणवादी होने से उनके बीच कोई सीधा रिश्ता नहीं कायम हो जाता है, क्योंकि प्राचीन वेदान्ती चिन्तन परम्पराओं व पुराणिक धर्म में ऐसी कई विचारसरणियां मौजूद हैं, जो कि प्रतिक्रियावादी भाववाद और ब्राह्मणवादी दर्शन पर आधारित हैं। केवल इस आधार पर यह कहना ही आदि शंकर का अद्वैत वेदान्ती दर्शन दीनदयाल उपाध्याय के एकात्म मानववाद का स्रोत है, मूर्खतापूर्ण है।

अब अगर दीनदयाल उपाध्याय के एकात्म मानववाद के दर्शन की बात करें तो वह एक आधुनिक फासीवादी विचारधारा के तत्व लिए हुए सामने आता है, जिसके मूल स्रोत सावरकर, गोलवलकर के विचारों व अन्य फासीवादी विचारों और कुछ हद तक बंकिम चन्द्र के प्रतिक्रियावादी विचारों से लिए गये हैं। 22 अप्रैल से 25 अप्रैल 1965 के बीच उपाध्याय ने मुम्बई में एकात्म मानववाद पर चार व्याख्यान दिये। यदि आप इन चार व्याख्यानों को पढ़ें तो एकात्म मानववाद के मूल बिन्दु आपके समक्ष स्पष्ट हो जाएंगे। उपाध्याय दावा करते हैं कि हर राष्ट्र एक साझी आकांक्षा रखता है; अगर ये साझी आकांक्षा पूरी होती है, तो लोगों को अनुभूति होती है, कि राष्ट्र सही दिशा में आगे बढ़ रहा है। यह साझी इच्छा प्रगति, समृद्धि और प्रसन्नता की होती है, लेकिन ये प्राप्त किस प्रकार होंगे यह राष्ट्र के धर्म पर निर्भर करता है। भारत पश्चिम के रास्ते से ये लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकता है, जहां जनवाद और/या समाजवाद के विचार हावी हैं। बकौल उपाध्याय पूंजीवाद और समाजवाद दोनों ही भारत के रास्ते नहीं हो सकते हैं (याद रखें कि ऐतिहासिक तौर पर फासीवादी जरूरत पड़ने पर अक्सर पूंजीवाद-विरोधी *डेमागॉगरी* का इस्तेमाल करते हैं क्योंकि यह टटपुंजिया आबादी को आकृष्ट करने में सहायता करता है)। भारतीय संस्कृति हमें बता सकती है

कि इन दोनों का विकल्प क्या है। भारतीय संस्कृति जीवन को एक समेकित पूर्णता के रूप में देखती है और इसलिए यही वास्तविक प्रगति, समृद्धि और प्रसन्नता प्राप्त कर सकती है। राष्ट्र उपाध्याय के लिए एक ऐसा समुदाय है जो स्वजात (self-born) होता है और एक निश्चित लक्ष्य व आदर्श को मानता है, तथा एक विशिष्ट स्थान को अपनी मातृभूमि मानता है। जिन्होंने भी सावरकर को पढ़ा है, वे यहां पर सावरकर के राष्ट्र की परिभाषा को याद कर सकते हैं जिसके अनुसार भारतीय वह है जो सिन्धु व सप्तसिन्धु को अपनी पितृभूमि व पुण्यभूमि मानता है। उपाध्याय के अनुसार, इस राष्ट्र के भीतर सामाजिक सामंजस्य होता है, जिसका अर्थ है कि विभिन्न जातियों व सामाजिक संस्तरों के बीच अन्तरविरोध नहीं बल्कि पूरकता का रिश्ता होता है। इसका सीधे शब्दों में अर्थ है कि सभी जातियां धर्म द्वारा प्रदत्त अपनी भूमिकाएं निभाती हैं और उनके बीच एक पूरकता का रिश्ता होता है, जिससे सामाजिक सामंजस्य बना रहता है और साथ ही वर्ग अन्तरविरोध जैसी कोई चीज़ भी राष्ट्र के भीतर नहीं होती। चूंकि राष्ट्रीयता का आधार धर्म है, इसलिए राष्ट्रीयता की इस परिभाषा से मुसलमान स्वत: ही बाहर हो जाते हैं। वस्तुत:, उपाध्याय इस मसले पर गोलवलकर को उद्धृत करते हैं, जिन्होंने विनोबा भावे से अपनी बातचीत में कहा था कि अच्छे और बुरे व्यक्ति हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों में ही पाए जा सकते हैं, मगर एक धार्मिक समुदाय के तौर पर दोनों में फर्क है। आगे गोलवलकर को उद्धृत करते हुए उपाध्याय कहते हैं, "यह देखा गया है कि हिन्दू अगर व्यक्तिगत जीवन में बदमाश भी हों, तो भी जब वे एक समूह के रूप में साथ आते हैं, तो वे हमेशा अच्छी चीज़ों के बारे में सोचते हैं...लेकिन जब दो मुसलमान साथ आते हैं, तो वे ऐसी चीज़ों को अनुमोदित करते हैं, जिनके बारे में वे व्यक्तिगत जीवन में सोचेंगे भी नहीं।" आप देख सकते हैं कि उपाध्याय का दर्शन कहां से आ रहा है। सिर्फ उपाध्याय के दावा करने से कि उनके दर्शन के स्रोत अद्वैत वेदान्ती दर्शन में हैं, यह सच नहीं हो जाता है। इसलिए बेहतर होता कि श्यामसुन्दर विकिपीडिया और अगम्भीर पुस्तकों के फ्लैप पढ़कर लिखने की बजाय, मूल स्रोतों का कुछ अध्ययन करके लिखते, क्योंकि जैसा कि हमने कहा, आलोचना लिखना एक जिम्मेदारी का काम होता है।

दूसरी बात यह है कि वेदान्ती दर्शन केवल आदि शंकर द्वारा प्रतिपादित अद्वैत वेदान्ती दर्शन के रूप में 'अन्तिम रूप' नहीं प्राप्त करता है, जैसा कि श्यामसुन्दर समझते हैं। वेदान्ती दर्शन की द्वैतवादी और अद्वैतवादी धाराएं बाद तक मौजूद रहीं जिनके बीच संवाद भी मौजूद रहा है। लेकिन इन बारीकियों के प्रति कोई जागरूकता रखने की उम्मीद आप श्यामसुन्दर जैसे विकीपीडिया वामपंथियों से कम ही रख सकते हैं। भारतीय इतिहास से सम्बन्धित ऐसी तथ्यात्मक भूलों की श्यामसुन्दर ने अपने 25 पृष्ठ के छोटे-से पत्र में ऐसी बारिश की है कि उन सबका खण्डन कर पाना यहां मुश्किल होगा और यह ज़रूरी भी नहीं है। *हम उनके पत्र के पाठकों को यही कह सकते हैं कि जहां कहीं भी श्यामसुन्दर ने इतिहास के विषय में कोई सूचना दी है या टिप्पणी कही है, उसे अपने जोखिम पर पढ़ें और किसी अच्छे इतिहासकार की रचना से उसे जांच लें।*

इसके बाद लगभग एक पृष्ठ में आर्यसमाज के दयानन्द सरस्वती के दर्शन के ब्राह्मणवादी चरित्र को बेनक़ाब किया है, जिसकी कोई आवश्यकता नहीं थी और जब भी आप कुछ अनावश्यक काम करते हैं, तो कुछ न कुछ ग़लती कर ही बैठते हैं। मिसाल के तौर पर, श्यामसुन्दर को यह लगता है कि शूद्रों को उपनयन संस्कार से दयानन्द सरस्वती ने अपनी रचना 'संस्कार विधि' के द्वारा वंचित किया। देखिये वह क्या लिखते हैं; बकौल श्यामसुन्दर, '"संस्कार विधि' में दिये गये एक अन्य संस्कार का जिक्र करना भी प्रासंगिक होगा। वह संस्कार है 'उपनयन संस्कार' यानी बच्चे को यज्ञोपवीत (जनेऊ) धारण कराए जाने वाला संस्कार। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी पुस्तक 'संस्कार विधि' में केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के घर जन्मे बालक को ही उपनयन संस्कार का अधिकारी और पात्र बताया है।" यहां दयानन्द सरस्वती कोई नयी बात नहीं कह रहे थे। वास्तव में, ऋग्वैदिक काल के समापन के साथ ही वैदिक आर्य समाज में वर्ग विभाजन की शुरुआत हो चुकी थी जो कि सातवीं शताब्दी ईसा पूर्व में लोहे की खोज और फिर

अधिशेष उत्पादन बढ़ने के साथ मज़बूत होते गये। राज्यों का उद्भव प्राचीन गणराज्यों के रूप में छठीं व पांचवी सदी ईसा पूर्व के साथ होने लगा था। दासत्व के आरंभिक रूप इस दौर में पैदा हो चुके थे और इन्होंने अशोक के दौर तक अपनी जड़ें मज़बूती से जमा ली थीं, हालांकि भारत में दास प्रथा रोमन चैटल दासत्व से अलग रूप में मौजूद रही थी और उत्पादक श्रम में इसकी भागीदारी क्लासिकीय यूरोपीय दास प्रथा की तुलना में कम थी। अब बताने की आवश्यकता नहीं है कि दास या अधीनस्थ श्रम करने वाले लोगों की पूरी आबादी में शूद्रों की बहुसंख्या थी और पांचवी व छठीं सदी ईसा पूर्व से पंचम वर्ण के रूप में दलितों की आबादी भी उसमें शामिल होने लगी थी, हालांकि अभी अस्पृश्यता कहीं-कहीं, अपवादस्वरूप बेहद भ्रूण रूप में ही थी। शूद्रों की अधीनस्थ आबादी की अधीनस्थता को ढांचागत बनाने के लिए ही ऋग्वैदिक काल के बाद के सभी ग्रंथों व शुरुआती उपनिषदों जैसे कि 'ऐतरेय ब्राह्मण' आदि में स्पष्ट तौर पर ब्राह्मणों ने यह दर्ज किया कि शूद्र आबादी को उपनयन संस्कार व वेदों के अध्ययन या उनकी श्रुति का अधिकार नहीं है। दयानन्द सरस्वती तो बस इसे दुहरा रहे थे। लेकिन चूंकि श्यामसुन्दर को इस विषय में 'संस्कार विधि' पढ़कर पता चला है, इसलिए आपको मानना ही पड़ेगा कि यह वास्तव में दयानन्द सरस्वती की कारस्तानी थी!

अब इस उपशीर्षक के मूल मसले पर आते हैं। श्यामसुन्दर हिन्दुत्व फासीवादी विचारधारा के विषय में भयंकर अज्ञान के शिकार हैं। उनके लिए हिन्दुत्व फासीवादी विचारधारा की निशानी सनातनी हिन्दू होना, वेद, उपनिषद, पुराण और समस्त हिन्दू शास्त्रों में यकीन करना, गोरक्षा में यकीन करना और मूर्ति पूजा में यकीन करना है। यानी हिन्दू धर्म की एक विशिष्ट परम्परा और हिन्दुत्व विचारधारा के बीच कोई अन्तर नहीं है। यही कारण है कि श्यामसुन्दर को गांधी भी हिन्दुत्ववादी लगते हैं और उनके अनुसार संघ परिवार के हिन्दुत्व और गांधी के हिन्दुत्व में बस इतना अन्तर है कि गांधी अपने हिन्दुत्व को थोप नहीं रहे थे और संघ परिवार अपने हिन्दुत्व को थोप रहा है! इससे ज्यादा अर्थहीन और अज्ञानतापूर्ण बात कोई नहीं हो सकती है। गांधी हिन्दू पुनरुत्थानवादी थे और सनातनी हिन्दू धर्म में उनका यकीन था, हालांकि उनका यह कहना कि मेरा वेदों, उपनिषदों और समस्त हिन्दू शास्त्रों में यकीन है, यह दिखलाता है कि स्वयं गांधी ने ये ग्रन्थ नहीं पढ़े थे। क्योंकि अगर वेदों में वे 'ऋग्वेद' को भी शामिल कर रहे हैं, तब तो वे बड़ी दुविधा में फंसेंगे, क्योंकि 'ऋग्वेद' के आखिरी हिस्से को छोड़कर, जैसे कि 'पुरुषसूक्त' का दसवां मण्डल आदि, शुरुआती हिस्सों में एक ऐसे समाज की तस्वीर सामने आती है जिसमें कि अभी सामुदायिक भावना और कबीलाई समाज की भावना की प्रधानता है। वर्ण का जिक्र केवल 'ऋग्वेद' के बाद के हिस्से में 'पुरुषसूक्त' में आता है और अभी जिस वर्ण का जिक्र किया जा रहा है, वह प्रारंभिक वैदिक समाज में पैदा हो रहे श्रम विभाजन और वर्ग विभाजन को दिखला रहा था, न कि उस वर्ण-जाति व्यवस्था को जो कि 1000 ईसवी के बाद अस्तित्व में आती है। वास्तव में, 'ऋग्वेद' में ही इसके दर्जनों प्रमाण मिल जाते हैं कि अभी जाति व्यवस्था के कोई भी बुनियादी गुण पैदा नहीं हुए थे, यानी, आनुवांशिक श्रम विभाजन, सजातीय विवाह और अस्पृश्यता तथा संस्तरीबद्ध असमानता। 'जाति' शब्द का पहला जिक्र 200 ईसा पूर्व से मिलता है और शुरुआती सारे उल्लेखों में जाति और वर्ण को एक ही अर्थ में इस्तेमाल किया गया है। जाति और वर्ण अलग रूप में केवल एक बार 'याज्ञवल्क्यस्मृति' में इस्तेमाल हुए। यानी अभी वर्ण और जाति का स्पष्ट अन्तर भी नहीं पैदा हुआ था। यह केवल *कॉमन एरा* की शुरुआत के करीब होता है। 'छान्दोग्य उपनिषद्' जैसे कई आरंभिक उपनिषदों में वेदों में दिये गये ज्ञान का खण्डन किया गया है, और यहां तक कि उनका मखौल भी उड़ाया गया है, विशेष तौर पर, उन श्रुतियों का जो कि कबीलाई समाज की सामुदायिकता व श्रम की गरिमा को प्रतिबिम्बित करती थीं।'ऋग्वेद' में ऐसी कई ऋचाएं हैं जो कि जादुई विश्व दृष्टिकोण के युग में सामुदायिक जीवन की भावना और आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करती हैं, मिसाल के तौर पर, 'ऋग्वेद' की प्रसिद्ध श्रम-सम्बन्धी ऋचा। इसलिए गांधी का यह कथन कि वे समस्त वेदों व हिन्दू शास्त्रों में यकीन

करते हैं, यह दिखलाता है कि हिन्दू धर्म के समूचे इतिहास और उसके ग्रंथों का गांधी को कोई गहरा अध्ययन नहीं था क्योंकि कोई भी व्यक्ति एक साथ इन तमाम परस्पर अन्तरविरोधी ग्रन्थों और शास्त्रों में यकीन नहीं कर सकता है। हिन्दू धर्म की उनकी समझदारी एक विशिष्ट समझदारी थी, जिस पर कई प्रभाव थे, जैसे कि उनकी कट्टर वैष्णवाइट माता के कारण वैष्णव धर्म का प्रभाव, जैन दर्शन का प्रभाव और इसके साथ ही थोरो, टॉल्स्टॉय जैसे मानवतावादियों का असर भी था। गांधी के हिन्दू धर्म सम्बन्धी विचार एक अलग शोध प्रबन्ध का विषय हो सकते हैं। गांधी के पुनरुत्थानवादी विचारों और आधुनिक मानवतावाद के मिश्रण की निश्चित तौर पर आलोचना पेश की जा सकती है और विशेष तौर पर उनके वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी विचारों की भी आलोचना की जा सकती है और की जानी चाहिए। लेकिन यह कहना कि गांधी हिन्दुत्व विचारधारा को मानते थे, इतिहास के साथ दुराचार होगा। श्यामसुन्दर का यह कहना हिन्दुत्व विचारधारा और ब्राह्मणवादी धर्म के समूचे इतिहास के बारे में उनके अज्ञान को प्रदर्शित करता है। हिन्दुत्व की विचारधारा कोई सनातनी, वैष्णवी हिन्दू धर्म की विचारधारा नहीं है। ऐसा समझना श्यामसुन्दर के आम तौर पर समूचे भारतीय इतिहास के बारे में पूर्ण अनभिज्ञता को दिखलाता है। यहां हम फिर कहेंगे कि अगर श्यामसुन्दर अपना जवाब कुछ मूल स्रोत और भारतीय इतिहास पढ़कर लिखते तो इससे कुछ फायदा होता। आइये हिन्दुत्व विचारधारा के आरंभ और उत्तरवर्ती विकास के इतिहास पर संक्षेप में निगाह डालते हैं।

अगर हिन्दुत्व विचारधारा के इतिहास पर सुवीरा जायसवाल, क्रिस्टोफ़ जेफरलॉट, रोमिला थापर, मार्जिया कासोलारी व तमाम अग्रणी प्रगतिशील इतिहासकारों व समाजशास्त्रियों की रचनाओं का अध्ययन करें तो हम पाते हैं कि हिन्दुत्व विचारधारा की शुरुआत 1910 के दशक के उत्तरार्द्ध और 1920 के दशक में होती है। विनायक दामोदर सावरकर इस विचारधारा के प्रमुख आरंभिक निर्माता थे। आपको यह जानकर आश्चर्य हो सकता है कि सावरकर स्वयं "मनुष्यों के वैयक्तिक ईश्वर" में यकीन नहीं करते थे, तर्कवादी थे और कर्मकाण्डीय धर्म के धुर विरोधी थे और कई बार अपने आपको 'नास्तिक' भी कहते थे, क्योंकि वह "ब्रह्माण्ड के ईश्वर" की बात करते थे, जिसे वह तर्कणा से जोड़ते थे। यह अनायास नहीं है कि नात्सियों के दार्शनिक स्रोत नियत्शे के भी कुछ ऐसे विचार थे, और इस बात के प्रमाण मौजूद हैं कि सावरकर ने नियत्शे का अध्ययन अपनी कारावास यात्रा के दौरान किया था। बताने की आवश्यकता नहीं है कि नियत्शे का दर्शन वास्तव में एक मानवतावाद-विरोधी आधुनिक प्रतिक्रियावादी दर्शन था। गोरक्षा के विषय में भी सावरकर के विचार लोगों को चौंका सकते हैं। गोरक्षा के बारे में उनका कहना था कि गाय की तब तक रक्षा की जानी चाहिए जब तक कि वह समाज के लिए उपयोगी है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि पीपल या बरगद का पेड़ तब तक बचाया जाना चाहिए जब तक कि वह समाज के लिए उपयोगी है। आगे सावरकर स्वयं ही पूछते हैं, "इससे क्या सहज ही यह तार्किक नतीजा नहीं निकलता कि जब वह पशु या वृक्ष मनुष्य जाति के लिए तकलीफ की वजह बन जाए, तो यह बने रहने या रक्षा किये जाने के लायक नहीं रह जाते और मानवतावादी और राष्ट्रीय हितों में इसको नष्ट करना एक मानव व राष्ट्रीय धर्म बन जाता है?" (समग्र सावरकर वांगमय, खण्ड-2, पृ. 678) धर्म और राष्ट्र की सावरकर की समझदारी का सीधे तौर पर सनातनी या वेदान्त दर्शन या हिन्दू धर्म की किसी अन्य शाखा से कोई लेना-देना नहीं था। सावरकर के अनुसार, किसी एक भूखण्ड पर निवास करने वाले, उसे अपनी पितृभूमि (fatherland) और पुण्यभूमि (holy land) मानने वाले लोग एक राष्ट्र को संघटित करते हैं और इस राष्ट्र के हित की सेवा ही उनका धर्म होता है और इस रूप में धर्म को राष्ट्र-धर्म से अलग नहीं किया जा सकता है। वे लोग जो इसे अपनी पुण्यभूमि नहीं मानते, वे इस राष्ट्र के अंग नहीं हो सकते और यदि वे यहां रहते हैं तो उन्हें दोयम दर्जा स्वीकार करना होगा, जैसे कि मुसलमान और ईसाई, जो कि मूलत: सिन्धु नदी व सप्तसिन्धु (यानी सागर) के बीच की भूमि के निवासी नहीं हैं। हिन्दुत्व का अर्थ सावरकर के लिए सीधे तौर पर धर्म से जुड़ा ही नहीं था। सावरकर ने लिखा था, "एक हिन्दू का धर्म हिन्दुओं की भूमि से एक हो चुका है; यह भूमि उसके लिए

पितृभूमि ही नहीं पुण्यभूमि भी है।" *सावरकर के लिए हिन्दुत्व का आधार था एक राष्ट्र, एक जाति (नस्ल के अर्थ में) और एक संस्कृति। जैन, बौद्ध आदि इसका अंग हैं, मगर मुसलमान और ईसाई नहीं क्योंकि वे मूलत: इस भूमि, नस्ल, संस्कृति और राष्ट्र के अंग नहीं हैं और अपनी पुण्यभूमि किसी और स्थान को मानते हैं। यह सारी सोच हिन्दुत्व फासीवादी विचारधारा की बुनियाद का निर्माण करती है, जिसे आगे गोलवलकर ने विकसित किया। यह फासीवादी विचारधारा एक आधुनिक विचारधारा है और यह हिन्दू धर्म और उससे जुड़ी हुई भावनाओं का इस्तेमाल करती है, जिसमें ब्राह्मणवादी व जातिवादी सोच भी शामिल है। लेकिन हिन्दुत्व को हिन्दू धर्म का समानार्थी बनाना मूर्खतापूर्ण होगा और हिन्दुत्व की एक आधुनिक फासीवादी विचारधारा के रूप में पहचान करने में आपको अक्षम बनायेगा और नतीजतन उसके खिलाफ संघर्ष करने में भी अक्षम बनायेगा।*

वास्तव में, हिन्दुत्व के इतिहास पर काम करने वाले तमाम मार्क्सवादी इतिहासकारों और मार्जिया कासोलारी ने हिन्दुत्व की विचारधारा के पश्चिमी मूल को दस्तावेज़ी प्रमाणों के आधार पर स्पष्ट तौर पर प्रदर्शित किया है। यदि आप स्वयं सावरकर के जेल के दौरान के लेखन को पढ़ें तो आप पाते हैं कि उन्होंने जेल में तमाम पश्चिमी प्रतिक्रियावादी विचारकों को पढ़ा था, जिसमें से एक फ्रेडरिख नियत्शे भी था। हिन्दुत्व ही हिन्दू धर्म नहीं है और इसीलिए 17 जुलाई को झारखण्ड में हिन्दुत्ववादियों ने एक आर्यसमाजी सन्त स्वामी अग्निवेश पर हमला कर दिया। यह अन्तर न समझ पाने के कारण ही श्यामसुन्दर वेदों, उपनिषदों, हिन्दू शास्त्रों, गोरक्षा आदि में यकीन को हिन्दुत्व का निचोड़ मानते हैं और इसी के आधार पर गांधी को भी हिन्दुत्ववादी घोषित कर देते हैं, "फिर दोहरा दें कि ऊपर गांधी जी के हवाले से जो उद्धृत किया गया, वही हिन्दुत्व का निचोड़ है। चाहे इसे हिन्दू धर्म का आधार कहो और चाहे हिन्दुत्व के आधार पर जीवन शैली का।" इसे कहते हैं प्रचण्ड कूपमण्डूकतापूर्ण बात को भी बार-बार ताल ठोंक-ठोंककर दुहराना! लेकिन श्यामसुन्दर के अहमकाना दावे यहीं रुकते नहीं हैं! आगे राहुल गांधी के मन्दिरों के दौरे करने, अपने हिन्दू होने का प्रमाण देने आदि के आधार पर श्यामसुन्दर कहते हैं कि कांग्रेस भी हिन्दुत्ववादी पार्टी है और इस मामले में भाजपा से रेस कर रही है! बस वह *अभी* देश को न तो हिन्दू राष्ट्र बनाने की बात नहीं करते और अपने हिन्दुत्व को दूसरों पर थोपते नहीं हैं! यानी कांग्रेस भी हिन्दुत्व को थोप भी सकती है और कभी हिन्दू राष्ट्र बनाने का प्रयास भी कर सकती है, बस वह अभी ऐसा नहीं कर रही है! यह कथन दिखलाता है कि श्यामसुन्दर को हिन्दुत्व फासीवाद की समझ न होने के कारण ही एक फासीवादी बुर्जुआ पार्टी तथा सेण्ट्रिज्म और दक्षिणपंथ के बीच दोलन करती सेण्टर-राइट बुर्जुआ पार्टी के बीच कोई अन्तर नहीं पता है। पत्रकारिता की भाषा में कांग्रेस द्वारा समय-समय पर हिन्दुओं के तुष्टिकरण के लिए हिन्दू कार्ड खेलने को 'साफ्ट हिन्दुत्व' या 'सॉफ्ट केसरिया' कह दिया जाता है, लेकिन एक समाज वैज्ञानिक की दृष्टि से भाजपा और कांग्रेस में गुणात्मक अन्तर है और कांग्रेस कोई हिन्दुत्ववादी पार्टी नहीं है। अगर हिन्दुत्व फासीवादी विचारधारा को मानने वाली फासीवादी पार्टी भाजपा और सेण्टर-राइट बुर्जुआ पार्टी कांग्रेस के बीच अन्तर नहीं किया जाता तो फासीवाद का प्रतिरोध करने के लिए किसी विशिष्ट रणनीति की आवश्यकता नहीं है। यह कहना कि भाजपा व कांग्रेस में बस यह फर्क कि भाजपा हिन्दुत्व को थोपती है, कांग्रेस नहीं थोपती, अद्भुत और उपहासास्पद नासमझी का उदाहरण है और गुणात्मक अन्तर को एक परिमाणात्मक अन्तर में तब्दील कर देना है। दिमित्रोव से लेकर लूकाच, ब्रेष्ट और बाद में पूलान्तज़ास जैसे कम्युनिस्ट नेताओं, बुद्धिजीवियों व सिद्धान्तकारों ने इस ग़लती के ख़िलाफ़ चेताया भी है और ऐसी राजनीतिक अन्धता का मज़ाक भी उड़ाया है। इस ग़लती को श्यामसुन्दर जितने भोण्डे तरीके से प्रकट करते हैं, वह भी मखौल के ही काबिल है।

इसी से जुड़ी हुई एक अन्य बात यह भी है कि ऋग्वैदिक काल से लेकर पुराणिक काल और उसके बाद के दौर में हिन्दू धर्म के इतिहास को देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि पूरे भारतीय महाद्वीप में हिन्दू धर्म का कोई एकाश्मीय व

सजातीय विकास क्रम और चरित्र नहीं रहा है। यह हमेशा ही कई वैदिक, वेदान्त, औपनिषदिक, पौराणिक, तांत्रिक परम्पराओं, मूल्यों-मान्यताओं, कर्मकाण्डीय ढांचे का एक बेमेल समुच्चय रहा है। यही कारण है कि हिन्दुत्व फासीवादी हिन्दू धर्म के राजनीतिक उपकरण के तौर पर इस्तेमाल के लिए उसे भारतीय उपमहाद्वीप के पैमाने पर एक एकल संरचना और चरित्र देने का प्रयास 1920 के दशक से ही करते रहे हैं। रोमिला थापर व सुवीरा जायसवाल जैसे अग्रणी प्रगतिशील इतिहासकारों ने इसे 'सेमिटाइज़ेशन ऑफ हिन्दुइज्म' का नाम दिया है और उचित ही नाम दिया है। किसी एक पवित्र ग्रन्थ से न बंधे होने और पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में अलग-अलग विकास पथ से फैलने, विकसित होने और संस्थाबद्ध होने के कारण हिन्दू धर्म कोई एक सजातीय संस्थाबद्ध परिघटना था ही नहीं और सही मायनों में अब भी नहीं है। यह हिन्दू धर्म को उसका कहीं ज्यादा वर्चस्वशील चरित्र भी देता है और इस रूप में ज्यादा खतरनाक और प्रतिक्रियावादी भी बनाता है, और वहीं यह हिन्दुत्व फासीवादियों के समक्ष कुछ मायनों में कुछ दिक्कतें भी पेश करता है। क्योंकि एकलसंस्कृतिकरण फासीवादी राजनीतिक परियोजना का एक अहम अंग है। निश्चित तौर पर, यह ऐसी दिक्कत नहीं है जिससे हिन्दुत्व फासीवादी पार न पा सकें, लेकिन यह उनके लिए निश्चित तौर पर असुविधा पैदा करता है। हिन्दुत्व फासीवादियों द्वारा हिन्दू धर्म के सेमिटाइज़ेशन का कारण यह है कि एक शुद्धत: विचारधारात्मक समुदाय (purely ideological community) के तौर पर 'हिन्दू राष्ट्र' के निर्माण की सावरकर और गोलवलकर की राजनीतिक परियोजना को अमल में लाने के लिए एक ऐसा उपकरण उपयुक्त नहीं है जिसमें एकलीकरण और एकाश्मीयता नहीं है। और यही कारण है कि फासीवाद की राजनीतिक परियोजना को भारतीय ऐतिहासिक सन्दर्भों में पूर्णता तक पहुंचाने के लिए हिन्दू धर्म की व्यापक, विजातीय, वैविध्यपूर्ण परम्पराओं के असंगत समुच्चय (ensemble) को एक एकाश्मीय स्वरूप देना संघ परिवार के साम्प्रदायिक फासीवादियों के लिए अनिवार्य है। लेकिन श्यामसुन्दर हिन्दू धर्म के विषय में ऐसे लिखते हैं, मानो यह एक अपरिवर्तनशील, एकाश्मीय और सजातीय परिघटना है जो कि प्रारंभिक वैदिक काल, यानी ऋग्वैदिक काल में ही ब्राह्मणवादी, जातिवादी विचारों से लैस हो गयी थी और सभी वेद, पुराण, उपनिषद और शास्त्र में एक एकल हिन्दू परम्परा, मूल्य व्यवस्था की बात की गयी है। यदि आप डी. डी. कोसांबी, रामशरण शर्मा, द्विजेन्द्रनाथ झा, सुवीरा जायसवाल, रोमिला थापर, विवेकानन्द झा जैसे तमाम मार्क्सवादी इतिहासकारों के शानदार शोध कार्यों का अध्ययन करें तो आप पातें हैं कि ऋग्वैदिक काल के आखिरी दौर में ही वर्ण व्यवस्था और ब्राह्मणवादी वर्चस्व के निर्माण की शुरुआत होती है। उससे पहले के कबीलाई समाज के दौर की ऐतिहासिक गतिकी भिन्न थी, और इसमें एक गुणात्मक परिवर्तन अधिशेष उत्पादन, वर्ग निर्माण, राज्य निर्माण आदि की प्रक्रिया में पैदा होता है। परिवार के ढांचे में पितृसत्तात्मक सत्ता का संस्थाबद्धीकरण और साथ ही जाति व्यवस्था और वर्ग व्यवस्था दोनों के ही पूरक के तौर पर सजातीय विवाह की परम्परा और स्त्रियों की अधीनता भी काफी बाद में विकसित होती है। भारतीय इतिहास के इन अध्यायों के बारे में श्यामसुन्दर की जानकारी शून्य है। और इसलिए जब आप इन पहलुओं के बारे में श्यामसुन्दर के पत्र में मौजूद टीका-टिप्पणियों को पढ़ते हैं, तो आप पाते हैं कि वह ऊबा देने वाली कूपमण्डूकताओं से भरी हुई हैं।

2. आधुनिक भारतीय इतिहास के विषय में श्यामसुन्दर के विचार

अब आधुनिक भारत के इतिहास के विषय में श्यामसुन्दर के विचारों पर निगाह डाल लेते हैं। यहां भी हम प्रचण्ड मूढ़ता और अज्ञान से भरी हुई टिप्पणियां पाते हैं। एक मिसाल देखिये:

"परिणामस्वरूप *जो संविधान बनाया गया और लागू किया गया उसमें जाति व्यवस्था का समाज के भौतिक आधार से राज्य द्वारा खात्मा कर दिया गया।* अर्थात् जाति और जन्म के आधार पर, वंशानुगत पेशों वाली व्यवस्था का

खात्मा कर दिया गया। देश के हर नागरिक को अपनी पसंद का पेशा चुनने का अधिकार दिया गया। अस्पृश्यता और बेगार प्रथा के खात्मे की घोषणा हुई तथा कुछ कुछ अन्य जनवादी-मौलिक अधिकार नागरिकों को मिले।" (ज़ोर हमारा)

पहली बात यह कि अंग्रेज़ों के औपनिवेशिक संविधान में भी जाति व्यवस्था समाज के भौतिक आधार का निर्माण नहीं करती थी। अंग्रेज़ों के 'गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया' एक्टों को पढ़ें तो स्पष्ट हो जाता है कि जाति व्यवस्था अंग्रेज़ी औपनिवेशिक राज्य के लिए समाज के भौतिक ढांचे का निर्माण नहीं करती थी। दूसरी बात यह है कि भारत के संविधान में अस्पृश्यता को खत्म ज़रूर किया गया और इस पर अमल करने को एक दण्डनीय अपराध ज़रूर बनाया गया, लेकिन जाति व्यवस्था को खत्म नहीं किया गया। जहां कहीं भी धर्म, नस्ल या जाति के आधार पर भेदभाव को खत्म करने की बात की गयी है, वहां पर यह राज्य की ज़िम्मेदारी है। मसलन, मूलभूत अधिकारों के मातहत अनुच्छेद 15 स्पष्ट तौर पर कहता है कि राज्य जाति के आधार पर कोई भेदभाव नहीं करेगा। लेकिन अगर स्वयं भारत के नागरिक जाति के आधार पर भेदभाव करते हैं (और अस्पृश्यता ही भेदभाव नहीं है, बल्कि वह भेदभाव का मात्र एक रूप है), तो यह किसी अनुच्छेद के मातहत दण्डनीय अपराध नहीं है। यही कारण है कि आज भी विवाह के इश्तेहार खुले तौर पर जातिगत पहचान के आधार पर दिये जाते हैं और सजातीय विवाह की परम्परा को बरकरार रखने में एक भूमिका अदा करते हैं। अगर *सरकार* द्वारा जाति के आधार पर भेदभाव न किये जाने के नियम को जाति व्यवस्था का भौतिक आधार से अन्त माना जाय, तो अनुच्छेद 14 के तहत कानून के समक्ष सभी नागरिकों की समानता को वर्ग व्यवस्था का अन्त क्यों न मान लिया जाय? एक तो श्यामसुन्दर ने बिना संविधान की प्रासंगिक धाराओं का अध्ययन किये एक ग़लत दावा किया और ऊपर से उस दावे के ऊपर नासमझ और बचकानी वैचारिक निर्मितियां बनाते चले गये हैं।

आगे श्यामसुन्दर लिखते हैं:

"यह बात दिन के उजाले की तरह साफ है कि पूंजीपति वर्ग के शासन और संविधान द्वारा आम जनता को दिए जाने वाले सभी जनवादी मौलिक अधिकार *औपचारिक और कागज़ी ही होते हैं*...पूंजीवादी सत्ता और संविधान के तहत तमाम मौलिक और जनवादी अधिकार कागज़ी, दिखावटी और कथनी तक ही सीमित होते हैं। आम जनता का व्यावहारिक जीवन कुछ और ही होता है। हमारे देश में भी क्योंकि सत्ता का हस्तान्तरण सन् 1947 में पूंजीपति वर्ग के हाथों में हो गया था, इसी कारण यहां जाति व्यवस्था का खात्मा और पेशे की स्वतन्त्रता का अधिकार भी मात्र औपचारिक तौर पर ही पूरे हुए हैं।" (ज़ोर हमारा)

इस प्रकार के तर्क को मार्क्स ने अपनी ही पूंछ का पीछा कर रहे सांप (Ouroboros) की संज्ञा दी थी। जब प्रूधों ने "सम्पत्ति चोरी है" का नारा दिया, तो मार्क्स ने स्पष्ट किया कि यह एक ऐसा ही तर्क है क्योंकि चोरी तभी सम्भव है जब निजी सम्पत्ति हो। उसी प्रकार श्यामसुन्दर कहते हैं कि पूंजीवादी सत्ता और संविधान के मातहत मिलने वाले सभी अधिकार केवल औपचारिक और कागज़ी होते हैं, यानी वे वास्तविक नहीं होते हैं। यह मूर्खतापूर्ण बात है। अगर ऐसा है तो उन्हें जनवादी क्रांति का पक्षधर हो जाना चाहिए। बुर्जुआ जनवाद जनता को सीमित जनवादी व नागरिक अधिकार देता है और इन अधिकारों की पहुंच वर्ग संस्तर में नीचे जाते हुए वास्तविक से औपचारिक बनती जाती है। लेकिन संस्तर की सबसे निचली पैंड़ीं पर खड़े मज़दूरों और मेहनतकशों को भी कुछ सीमित जनवादी अधिकार *वास्तविक* रूप से मिले होते हैं, क्योंकि वह पूंजीवाद और पूंजीपति वर्ग की आवश्यकता होती है। यह कहना कि सभी जनवादी मौलिक अधिकार पूर्णत: औपचारिक और कागज़ी हैं, वास्तविक नहीं, जनवादी क्रांति मानने वालों के लिए सही है, लेकिन समाजवादी क्रांति मानने वालों के लिए बेवकूफी। *क्योंकि अगर ऐसा है तो 26 जून 1975 को क्या*

छिना था, अगर कुछ वास्तविक हासिल ही नहीं था? श्यामसुन्दर एक एजिटेशनल पर्चा लिखने और एक गम्भीर राजनीतिक निबन्ध लिखने में कोई फर्क नहीं समझते। यही कारण है कि इस पत्र में वे तय नहीं कर पा रहे हैं कि पाठक को एजिटेट करें या फिर उसके समक्ष विचारधारात्मक प्रचार (शिक्षण-प्रशिक्षण) के कार्य को अंजाम दें! लेकिन हम इससे बेहतर की उम्मीद भी श्यामसुन्दर जैसे कठमुल्लावादियों से नहीं कर सकते। आगे श्यामसुन्दर ने उपरोक्त उद्धरण में पुरानी ग़लती को दुहराते हुए कहा है कि जाति व्यवस्था का औपचारिक तौर पर खात्मा किया गया था। हम ऊपर दिखला चुके हैं कि जाति व्यवस्था के विषय में संविधान कुछ नहीं कहता है, सिवाय इसके लिए राज्य जाति के आधार पर भेदभाव नहीं करेगा। लेकिन समाज में मौजूद जाति व्यवस्था के खात्मे, जाति के आधार पर नागरिकों द्वारा विभेद किये जाने को दण्डनीय अपराध बनाने, के विषय में संविधान चुप है और इसलिए अस्पृश्यता का कानूनी-वैधिक (legal-juridical) खात्मा जरूर किया गया, लेकिन जाति व्यवस्था का नहीं।

और देखें कि श्यामसुन्दर ने क्या लिखा है:

"भारत में *औपनिवेशिक काल से पूर्व* हमारे समाज के जातिवादी सामंती आर्थिक ढांचे की यह राज्यसत्ता ही मुख्य रूप से रक्षा करती थी और इसे शोषक वर्गों/वर्णों, जातियों के हितों के लिए कायम रखने का कार्य करती थी। औपनिवेशिक काल में उपनिवेशवादी ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग ने पुरानी सामंती सत्ताओं को ध्वस्त करते हुए और उन्हें अपने अधीन बनाते हुए अपनी औपनिवेशिक सत्ता कायम की और पुरानी सामंती जातिवादी व्यवस्था को उतनी ही चोट पहुंचाई जितनी कि उसके अपने हितों की पूर्ति के लिए ज़रूरी था। यहां यह भी स्पष्ट किया जाना उचित होगा कि ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता के दौरान भारत की ब्राह्मणवादी-जातिवादी व्यवस्था को जो भी चोटें लगीं उसके पीछे ब्रिटिश शासकों की देश के दलितों की भलाई या मुक्ति की कोई भावना काम नहीं कर रही थी बल्कि *औपनिवेशिक उत्पादन प्रणाली* की खुद की यह ज़रूरत थी। ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता ने देश के पुराने सामंती जातिवादी ढांचे पर अपने स्वार्थवश कुछ हद तक प्रहार किया था और दलितों को कुछ राहत हासिल हुई थी।" (ज़ोर हमारा)

यह पूरा उद्धरण इतने स्तरों पर अज्ञानतापूर्ण और त्रुटिपूर्ण है, कि सभी स्तरों पर इसका खण्डन मुश्किल होगा। फिर भी हम कोशिश करते हैं। पहली बात तो यह है कि औपनिवेशिक राज्यसत्ता ने भी सामन्ती आर्थिक ढांचे की मूलत: और मुख्यत: हिफाजत ही की। जो सीमित पूंजीवादी विकास, शहरीकरण, रेलवे आदि का निर्माण हुआ वह भारतीय समाज के बेहद छोटे नगरीय केन्द्रों तक सीमित था। जहां तक कृषि व भूमि सम्बन्धों की बात है, अंग्रेजी औपनिवेशिक सत्ता ने सामन्ती आर्थिक ढांचे को न सिर्फ बचाया बल्कि अपने तरीके से मज़बूत किया। पुराने सामन्ती रजवाड़ों को जहां समाप्त भी किया गया वहां अंग्रेजों ने खेती में सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों को ही बरकरार रखा और अपने अनुसार ढाला। यदि आप अंग्रेजों द्वारा लागू किये गये तीन भूमि बन्दोबस्तों यानी स्थायी बन्दोबस्त, रैयतवाड़ी बन्दोबस्त और महालवाड़ी बन्दोबस्त का अध्ययन करें तो आप पाते हैं कि जागीरदारों व ज़मींदारों के पूरे सामन्ती वर्ग को अंग्रेजों ने अपनी सत्ता के मातहत सहयोजित किया। लगान का चरित्र सामन्ती ही बना रहा। आप धर्म कुमार, रणजीत गुहा, सुमित सरकार से लेकर शेखर बंद्योपाध्याय जैसे तमाम आधुनिक भारत के इतिहासकारों के इस बाबत शोधकार्यों का अध्ययन कर इस बात को स्पष्ट तौर पर समझ सकते हैं। लेकिन श्यामसुन्दर से ऐसे गम्भीर अध्ययन की उम्मीद करना आकाश-कुसुम की अभिलाषा के समान होगा।

श्यामसुन्दर का यह सोचना भी, कि अंग्रेज़ों ने बस जाति व्यवस्था को सिर्फ आंशिक नुकसान ही पहुंचाया, उतना ही मूर्खतापूर्ण है। अंग्रेजों ने जाति व्यवस्था को जो सीमित नुकसान पहुंचाया, उससे ज्यादा उन्होंने जाति व्यवस्था को सुदृढ़ बनाया। अंग्रेजी शासन के मातहत मूलत: तीन कारकों से जाति व्यवस्था को सीमित नुकसान पहुंचा, जो थे

सेना में भर्ती, शिक्षा तक पहुंच मुहैया कराना और ईसाई मिशनरियों की शैक्षणिक और सांस्कृतिक गतिविधियां। इनसे जाति व्यवस्था पर जो सीमित चोट हुई वह अपने भौगोलिक और कालिक विस्तार में भी बहुत ही सीमित थी। सेना में भर्ती अंग्रेज़ों ने 1891 में बन्द कर दी क्योंकि ब्राह्मणवादियों ने इसका विरोध किया। वास्तव में, अम्बेडकर के पूर्व के कुछ दलित जाति-विरोधी सुधारकों का मुख्य एजेण्डा ही सेना में भर्ती को फिर से शुरू करवाना था। अंग्रेजों ने प्रथम विश्वयुद्ध और द्वितीय विश्वयुद्ध में कुछ समय के लिए नॉन-कॉम्बेटेण्ट पदों पर कुछ सीमित दलित भर्तियां कीं और वे भी बन्द कर दीं। शिक्षा का अधिकार भी बेहद सीमित अर्थों में बम्बई प्रेसीडेंसी, सेण्ट्रल प्रॉविंसेज़ एण्ड बेरार, व दक्षिण भारत के कुछ हिस्सों में दलितों को मिला और वह भी व्यवहार में बहुत कम लागू हुआ क्योंकि ब्राह्मणों ने इसका विरोध किया। अय्यंकाली का आन्दोलन वास्तव में केरल में इसी मुद्दे को लेकर शुरू हुआ था। ईसाई मिशनरियों की पहुंच और असर बेहद सीमित था और उनसे शिक्षा का अधिकार दलितों की एक बेहद छोटी आबादी को प्राप्त हुआ। भारत के बाकी हिस्सों में तो यह भी नगण्य ही हुआ था। इन बेहद सीमित अर्थों में जाति व्यवस्था पर एक अधूरी चोट औपनिवेशिक दौर में हुई, मगर इससे कहीं ज्यादा व्यापक अर्थों में अंग्रेज़ी शासन ने जाति व्यवस्था को मज़बूत बनाया। इस विषय पर आप निकोलस डर्क्स, सुमित सरकार, अर्जुन अप्पादुरई जैसे तमाम अध्येताओं के शोधकार्यों का अध्ययन कर सकते हैं। अंग्रेजी शासन ने मुख्य रूप से दो तरीके से जाति व्यवस्था को मज़बूत और पहले से ज्यादा रूढ़ बनाया: पहला, औपनिवेशिक भूमि बन्दोबस्तों के द्वारा; दूसरा, एथनोग्राफिक राज्य संरचनाओं व संस्थाओं, जैसे कि जाति आधारित जनगणना, सर्वेक्षण व प्रशासनिक अध्ययनों तथा शेड्यूल्ड कास्ट की कानूनी-विधिक श्रेणी के निर्माण के द्वारा। औपनिवेशिक भूमि बन्दोबस्त ने दलितों व शूद्रों की भूमिहीनता को और भी ज्यादा रूढ़ और संरचनात्मक रूप दिया और जाति पदानुक्रम में जो थोड़ी-बहुत गतिमानता औपनिवेशिक-पूर्व भारत में मौजूद थी, उसे भूमि में सामन्ती भूस्वामी वर्ग के लिए कानूनी-विधिक निजी सम्पत्ति की शुरुआत के द्वारा समाप्त कर दिया। यह भूमिहीनता ऐतिहासिक तौर पर ढांचागत बना दी गयी। साथ ही, जनगणना व अन्य एथनोग्राफिक कार्रवाइयों के ज़रिये अंग्रेजी औपनिवेशिक सत्ता ने जातिगत पहचान को पहली बार कानूनी-विधिक श्रेणीबद्ध मान्यता व पहचान मुहैया कराई। इससे भी जाति व्यवस्था के पदानुक्रम की आंतरिक सीमाएं पहले हमेशा से ज्यादा रूढ़ बनीं। इस तौर पर अगर जाति व्यवस्था पर औपनिवेशिक शासन के प्रभाव का पूर्णता में मूल्यांकन किया जाय, तो यह कहा जाएगा कि इसने जाति व्यवस्था को नुकसान पहुंचाने के मुकाबले रूढ़ बनाने का काम ज्यादा किया। लेकिन श्यामसुन्दर औपनिवेशिक भारत के इतिहास और विशेष तौर पर उस दौर में जाति व्यवस्था के इतिहास पर पता नहीं कौन से शोधकार्य और पुस्तकें पढ़कर बैठें हैं, यह अपने आप में एक शोध कार्य का विषय हो सकता है।

तीसरी बात, जो उपरोक्त उद्धरण में श्यामसुन्दर की विलक्षण जड़मतित्व को दिखलाती है वह है *औपनिवेशिक उत्पादन प्रणाली* की बात। यह क्या होती है? मतलब, एक सामन्ती उत्पादन प्रणाली होती है, एक पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली होती है, और उसी प्रकार एक औपनिवेशिक उत्पादन प्रणाली भी होती है? इसकी क्या खासियत होती है? मार्क्स ने बताया है कि एक उत्पादन प्रणाली को दूसरी उत्पादन प्रणाली से इस आधार पर अलग किया जाता है कि उनमें अधिशेष विनियोजन की पद्धति (mode of surplus extraction) अलग होती है। सामन्तवाद के दौर में सामन्ती भूमि लगान व आर्थिकेतर उत्पीड़न के आधार पर आर्थिक अधिशेष का विनियोजन होता है, जिसके ठोस रूप भूदासत्व व बंधुआ श्रम के रूप में सामने आते हैं। पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में यह श्रम-पूंजी के सम्बन्धों के आधार पर होता है, जिसके मूल में श्रमशक्ति का माल बनना और उत्पादन के साधन के मालिकाने का पूंजीपति वर्ग के हाथों में सीमित हो जाना होता है; इसी को मार्क्स ने उजरत का सम्बन्ध (wage-relation) और पूंजी सम्बन्ध (capital-relation) कहा है। लेकिन औपनिवेशिक उत्पादन प्रणाली में क्या होता है? यहां आर्थिक अधिशेष

विनियोजन की वह कौन सी पद्धति होती है जिसके आधार पर इसे अन्य उत्पादन प्रणालियों से अलग किया जा सकता है? सच्चाई यह है कि औपनिवेशिक उत्पादन प्रणाली जैसी कोई चीज़ नहीं होती। इसकी बात उत्पादन प्रणाली बहस में एक पाकिस्तानी मार्क्सवादी बुद्धिजीवी हमज़ा अलवी ने की थी, जिसे वे ठीक तरीके से परिभाषित नहीं कर पाए थे। कारण यह है कि दुनिया के इतिहास में हर जगह औपनिवेशिक शासन के मातहत या तो पूंजीवादी उत्पादन पद्धति हावी उत्पादन पद्धति बनी (जैसे कि तमाम 'सेटलर' उपनिवेश) या सामन्ती उत्पादन पद्धति बरकरार रखी गयी है या फिर पूंजीवादी उत्पादन पद्धति और सामन्ती उत्पादन पद्धति का कोई तन्तुबद्धीकरण मौजूद रहा है, जिसमें किसी उपनिवेश में पूंजीवादी उत्पादन पद्धति का प्रभुत्व बना रहा है, तो किसी उपनिवेश में सामन्ती उत्पादन पद्धति का। अपने आप में औपनिवेशिक उत्पादन पद्धति जैसी कोई चीज़ नहीं होती है, जिसे अधिशेष विनियोजन की उसकी विशिष्ट पद्धति के आधार पर अन्य उत्पादन प्रणालियों से अलग किया जा सके। अब ये बातें मार्क्सवाद के अध्ययन के शुरुआती दौर में ही कोई विद्यार्थी समझ जाता है। लेकिन श्यामसुन्दर जैसे पुराने वामपंथियों को भी ऐसी बातें नहीं समझ आतीं हैं, तो इसे प्रचण्ड मूर्खता और अज्ञानता न कहा जाय तो क्या कहा जाय? इससे यही पता चलता है कि मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के 'क ख ग' का भी ज्ञान श्यामसुन्दर को नहीं है।

अपने पत्र के शुरुआत में ही श्यामसुन्दर एक अन्य अज्ञानतापूर्ण टिप्पणी करते हैं। श्यामसुन्दर लिखते हैं:

"ब्राह्मणवादी जाति व्यवस्था की चूलों पर ब्रिटिश शासन ने इतनी चोटें ज़रूर मार दी थीं कि ज्योतिबा फूले, सावित्रीबाई फूले, पेरियार और अम्बेडकर जैसे समाज सुधारकों के लिए इस ब्राह्मणवादी जातिवादी समाज व्यवस्था के उत्पीड़न और अत्याचारों के खिलाफ अपनी आवाज़ उठाने की स्थिति पैदा हो गयी थी।"

यानी जाति-विरोधी समाज सुधारक इसलिए पैदा हो पाए क्योंकि अंग्रेजी शासन ने एक हद तक जाति व्यवस्था की "चूलें और कब्ज़े" हिला दिये थे! ऐसी कूपमण्डूकतापूर्ण बात वही कह सकता है जिसके खुद के दिमाग के चूलें और कब्ज़े ढीले हो गये हों। जाति-विरोधी सुधारकों और योद्धाओं का भारत में एक व्यापक इतिहास रहा है। यहां तक कि औपनिवेशिक दौर में भी तमाम ऐसे जाति-विरोधी योद्धा और सुधारक पैदा हुए जिनके पैदा होने में औपनिवेशिक शासन, उसकी शिक्षा या उसके सीमित पूंजीवादी आर्थिक असर का कोई योगदान नहीं था। मिसाल के तौर पर, सबसे रैडिकल जाति-विरोधी योद्धाओं में से एक अय्यंकाली एक निरक्षर व्यक्ति थे और उन्होंने इस बात को भी समझा कि जाति व्यवस्था व ब्राह्मणवाद तथा अंग्रेजी औपनिवेशिक शासन में गहरा रिश्ता है। यही कारण था कि अपने जाति-विरोधी आन्दोलनों में उन्होंने महज़ सामाजिक स्तर पर ब्राह्मणवाद को निशाना नहीं बनाया, बल्कि उसे सम्बल देने वाली औपनिवेशिक राज्यसत्ता को भी राजनीतिक और आर्थिक तौर पर निशाना बनाया। उसी प्रकार पेरियार भी अंग्रेजी औपनिवेशिक शिक्षा या मिशनरी शिक्षा से नहीं लैस थे। वास्तव में, मिशनरी शिक्षा में शिक्षित होने के बावजूद ज्योतिबा फुले अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में अंग्रेजी औपनिवेशिक शासन और ब्राह्मणवाद के बीच के रिश्ते को समझने लगे थे और साथ ही सामन्ती व्यवस्था के साथ अंग्रेजी औपनिवेशिक शासन के सम्बन्धों को समझने लगे थे, जिसे आप उनके 1880 के दशक की रचना 'किसान का कोड़ा' को पढ़कर समझ सकते हैं। लेकिन श्यामसुन्दर के लिए ऐसे जाति-विरोधी सुधारकों के पैदा होने का कारण यह था कि ब्रिटिश शासन ने जाति व्यवस्था के "कब्जे और चूलें" ढीली कर दी थीं। लेकिन जिसे भी भारत और भारत के जाति-विरोधी आन्दोलनों का इतिहास पता है, वह समझ सकता है कि ऐसा तर्क वही दे सकता है जिसके दिमाग के पेच ढीले हों।

ऐसी अन्य कई मूर्खतापूर्ण टिप्पणियां और भी हैं, जिन सभी का खण्डन करना यहां सम्भव नहीं है। हमने श्यामसुन्दर की अज्ञानतपूर्ण बातों के विपुल भण्डार से बस कुछ प्रातिनिधिक उदाहरणों को छांटकर उनका खण्डन किया है,

ताकि पाठक समझ सकें कि वामपंथी आन्दोलन में इतने वर्ष बिताने के बाद भी कोई व्यक्ति अपने ही देश के इतिहास के विषय में इतनी प्रचण्ड अज्ञानतापूर्ण और मूर्खतापूर्ण बातें कैसे कह सकता है। अब हम डा. अम्बेडकर के विषय में श्यामसुन्दर के विचारों पर आते हैं। यहां पर भी आपको वैसी ही या और भी अधिक चकित कर देने वाली जड़बुद्धिता का बोलबाला मिलेगा, जिसके पीछे मुख्य कारण है डा. अम्बेडकर की बेबाक मार्क्सवादी आलोचना से बचकर दलित आबादी का तुष्टिकरण करने की श्यामसुन्दर की सोच। या इसका कारण शुद्धत: मूर्खता भी हो सकता है, हम पक्के तौर पर नहीं कह सकते, क्योंकि पूरे जवाब को पढ़कर इन दोनों ही सम्भावनाओं की सम्भावना बनी रहती है!

3. डा. अम्बेडकर के विषय में श्यामसुन्दर के विचार: हैमलेटियन दुविधा या शुद्ध मूर्खता?

सबसे पहले तो हम अम्बेडकर के विषय में श्यामसुन्दर के विचार-रत्नों को पेश कर दें, ताकि पाठक ठीक तरह से अहमकपन का पूरा मुज़ाहिरा देख लें और उसका जायज़ा ले लें, उसके बाद हम इन विचारों की समीक्षा भी करेंगे। श्यामसुन्दर लिखते हैं:

"इन दोनों बातों से एक चीज़ स्पष्ट रूप से समझी जा सकती है कि गांधी जी के नेतृत्व में देश का पूंजीपति वर्ग जिस सत्ता प्राप्ति के प्रयासों यानी पूंजीवादी जनवादी संघर्ष को अपने ढंग और हितों से अंजाम देने में लगा हुआ था तब बाबा साहब उसी संघर्ष में एक पूरक की भूमिका निभा रहे थे और वह पूरक संघर्ष की भूमिका एक जनवादी चरित्र लिए हुए थी और जब सत्ता हस्तांतरण के लिए समझौता हुआ और एक गणतंत्र देश का नया संविधान बनाने के लिए जो संविधान सभा अस्तित्व में आई उसमें बाबा साहब भी एक सदस्य के तौर पर निर्वाचित हुए या कराए गए। *परिणामस्वरूप जो संविधान बनाया गया और लागू किया गया उसमें जाति व्यवस्था का समाज के भौतिक आधार से राज्य द्वारा खात्मा कर दिया गया।*" (ज़ोर हमारा)

अभी रुकिये! श्यामसुन्दर के अतिसुन्दर विचारों की कुछ और पुष्पवर्षा देखिये, ये तो सिर्फ शुरुआत थी। देखें:

"बाबा साहब डा. भीमराव अम्बेडकर यदि देश के दलितों व अन्य शोषित-उत्पीड़ित मेहनतकश वर्गों को सत्ता दिलाने के लिए आज़ादी आन्दोलन में लड़े होते *और देश के पूंजीपति वर्ग के हाथों में सत्ता हस्तांतरित होने से रोक पाते तो निश्चित रूप से आज़ादी के बाद देश के दलितों, और अन्य तमाम शोषितों-पीड़ितों को न तो ये दुर्दिन देखने पड़ते और न ही पूंजीवादी नर्क का यह नारकीय जीवन भोगना पड़ता।*" (ज़ोर हमारा)

और देखें:

"बाबा साहब डा. भीमराव अम्बेडकर ने ब्रिटिश सत्ता के समक्ष आवेदन निवेदन करने वाला रास्ता चुना जिसे हम सुधारवादी रास्ता कहते हैं और भगतसिंह ने दूसरी क्रांतिकारी राह का आह्वान किया था। बाबा साहब दलितों मज़दूरों की सत्ता के लिए नहीं लड़े यही उनकी कमजोरी थी और *उनकी इसी कमज़ोरी के कारण सत्ता को देश का पूंजीपति वर्ग हथिया ले गया फलस्वरूप जनवादी क्रांति अपने अंजाम तक नहीं पहुंच पाई, वह अधूरी ही रह गयी* जिसका खामियाज़ा अभी इस देश के दलित और तमाम श्रमिक तथा मेहनतकश किसान भुगत रहे हैं।" (ज़ोर हमारा)

और भी:

"लेकिन दुर्भाग्य की बात है कि बाबा साहब इतने प्रतिभावान और भुक्तभोगी होते हुए भी दलितों की मुक्ति के लिए संघर्ष के सुधारवादी ढंग तक ही सीमित रहे और क्रांतिकारी अवस्थिति को न अपना सके जिसका अहम सवाल संगठित होकर सत्ता हासिल करने का सवाल था। सुधारवादी ढंग से इस संघर्ष को अपनी तर्कसंगत मंजिल तक पहुंचना ही सम्भव नहीं था और *इस बात का खुद बाबा साहब को भी अहसास हो गया था। सन 1936 में जाति उन्मूलन विषय पर जो लेख लिखा था वह उनके इस अहसास का सबूत है क्योंकि उसी लेख में वे इस निष्कर्ष पर पहुंच गये थे कि जाति उन्मूलन असम्भव है और दलित जातियों को भी इस बात का पूर्ण अहसास हो चुका है कि बाबा साहब के बताये रास्ते से जाति उन्मूलन सम्भव नहीं है* इसलिए उन्होंने अब अपनी-अपनी जातियों के नाम में ही 'गर्व' ईजाद कर लिया है।" (ज़ोर हमारा)

यहां भी इतने स्तरों पर श्यामसुन्दर ने नासमझी भरी और तथ्यात्मक रूप से ग़लत बातें कहीं हैं कि सभी का खण्डन सम्भव नहीं होगा। लेकिन हम प्रातिनिधिक मूर्खताओं का चुनाव कर उनका खण्डन पेश करेंगे ताकि पाठक समझ सकें कि डा. अम्बेडकर की विचारधारा और राजनीति के विषय में समझदारी के मामले में श्यामसुन्दर का डिब्बा गोल है। इन्होंने जो लिखा है उससे स्पष्ट ज़ाहिर होता है कि सम्भवत: *एनिहिलेशन ऑफ कास्ट* के अलावा इन्होंने अम्बेडकर की किसी भी रचना का अध्ययन नहीं किया है और शायद *एनिहिलेशन ऑफ कास्ट* का भी इन्होंने या तो गम्भीरता से और आद्योपान्त अध्ययन नहीं किया है या फिर अध्ययन करके भी समझ नहीं पाए हैं।यह श्यामसुन्दर की आम समस्या प्रतीत होती है। अब आइये इन उद्धरणों में पेश अनमोल रत्नों की सिलसिलेवार जांच करें।

पहले उद्धरण में यह कहा गया है कि गणतांत्रिक भारत के संविधान ने अम्बेडकर के योगदान के कारण जाति व्यवस्था का भारतीय समाज के भौतिक आधार के रूप में समापन कर दिया। पहली बात तो यह है कि भारत का संविधान अस्पृश्यता का उन्मूलन करता है और उसपर अमल को दण्डनीय अपराध बनाता है, लेकिन जहां तक जाति व्यवस्था का प्रश्न है वह *केवल राज्य को* धर्म, जाति, नस्ल व लिंग के आधार पर भेदभाव करने से रोकता है, मगर यदि स्वयं नागरिक जाति के आधार पर भेदभाव करें, तो संविधान इस पर कुछ भी नहीं कहता। वास्तव में, अगर लोग जाति-आधारित सभाएं बनाएं, जाति-आधारित विवाह के लिए इश्तेहार छापें, जातिगत समारोह व सम्मेलन आयोजित करें, तमाम नौकरशाह जाति के आधार पर अपने मंच बनाएं, तो इस पर भारत का संविधान कुछ भी नहीं कहता है। यह हमारे संविधान के अनुसार कोई असंवैधानिक गतिविधि नहीं है। वास्तव में, अगर कोई निजी उद्यम रोज़गार के अवसर देने या अपनी अन्य गतिविधियों में जाति के आधार पर भेदभाव करता है, तो भी भारत का संविधान उसे दण्ड नहीं दिलवा सकता; कोई व्यक्ति अपने निजी जल भण्डार या स्रोत को सभी जातियों के लिए खोलता नहीं, तो भी उसे भारतीय संविधान कोई दण्ड नहीं दिला सकता। सभी सार्वजनिक जल भण्डार या स्रोतों, या मार्गों को संविधान सभी जातियों के लिए खोलता है, मगर यह निजी मालिकाने के तहत आने वाले उद्यमों या उपक्रमों पर लागू नहीं होता। और जिसने भी संविधान सभा की बहसों में अम्बेडकर के हस्तक्षेप पढ़े हैं, वे सभी जानते हैं कि वे निजी सम्पत्ति के अधिकार के कट्टर समर्थक थे; यहां तक कि संविधान का जो मसौदा मूलत: पारित हुआ, उसमें निजी सम्पत्ति का अधिकार मूलभूत अधिकार था, जिसे बाद में मूलभूत अधिकार के हिस्से से हटाया गया। ऐसे में, यह कहना कि संविधान ने जाति व्यवस्था का समाज के भौतिक आधार से उन्मूलन कर दिया, मूर्खतापूर्ण बात है। दूसरी बात यह है कि यदि कोई सामाजिक-आर्थिक सम्बन्ध समाज में मौजूद है तो कानून या संविधान बनाकर उसका खात्मा नहीं किया जा सकता है। यह प्रश्न मूलत: सत्ता का प्रश्न है; सत्ता पर कब्ज़ा करने के बाद कोई क्रांतिकारी शक्ति किसी सामाजिक-आर्थिक सम्बन्ध का कानूनी-विधिक उन्मूलन कर सकती है, जैसे कि सोवियत सत्ता ने निजी सम्पत्ति का उन्मूलन किया। *लेकिन सम्पत्ति सम्बन्धों के कानूनी-विधिक रूपान्तरण से ही उत्पादन सम्बन्धों का रूपान्तरण नहीं हो जाता है।* सम्पत्ति सम्बन्ध उत्पादन सम्बन्ध के तीन आयामों में से एक

आयाम है और सबसे अहम आयाम है। लेकिन सम्पत्ति सम्बन्ध ही उत्पादन सम्बन्ध नहीं होते। उत्पादन सम्बन्ध के दो अन्य आयाम होते हैं श्रम विभाजन और वितरण के सम्बन्ध। निजी सम्पत्ति के कानूनी खात्मे से उत्पादन सम्बन्धों के क्रांतिकारी रूपान्तरण का काम शुरू होता है, खत्म नहीं। इसीलिए लेनिन ने स्पष्ट किया था कि जब तक मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम में विभेद है और जब तक गांव-शहर व उद्योग-कृषि की असमानताएं मौजूद हैं, तब तक माल उत्पादन जारी रहेगा और उनके सामान्यीकृत हो फिर से पूंजीवादी सम्बन्धों की पुनर्स्थापना होने की सम्भावना बनी रहेगी। माओ ने इसी सिरे को पकड़कर समाजवादी संक्रमण के विषय में अर्थवादी समझदारी का खण्डन किया और बताया कि केवल सम्पत्ति सम्बन्धों के कानूनी खात्मे से उत्पादन के सामाजिक सम्बन्ध पूर्णत: रूपान्तरित नहीं हो जाते। लेकिन श्यामसुन्दर अपने भोण्डे कठमुल्लवादी अर्थवाद को इस मसले में बार-बार उजागर करते हैं। सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों का रूपान्तरण उनके लिए कानून का मसला है। एक अन्य स्थान पर श्यामसुन्दर अपनी इस "समझदारी" को पूर्णत: नग्न अवस्था में रखते हैं:

"इसके बाद (समाजवादी सत्ता की स्थापना के बाद) ही वे समाज में व्याप्त तमाम प्रकार की ऊंच-नीच और गैर-बराबरी को, चाहे सामाजिक हो चाहे आर्थिक वांछित कदम उठाते हुए, *कानून बनाकर उन्हें लागू करते हुए मिटा सकते हैं*" (ज़ोर हमारा)

सामाजिक सम्बन्धों का रूपान्तरण मूलत: वर्ग संघर्ष का मसला होता है; कानून और आज्ञप्तियां केवल उस वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया का एक अंग होती हैं और उस प्रक्रिया को एक अगले चरण में ले जाने का काम करती हैं। इसीलिए एंगेल्स ने बहुत पहले ही 'समाजवाद: काल्पनिक और वैज्ञानिक' में ही स्पष्ट कर दिया था कि निजी सम्पत्ति के बिना भी पूंजीवाद सम्भव है और बाद में लेनिन और माओ ने भी इस बात की ताईद की थी। लेकिन श्यामसुन्दर इतनी सामान्य मार्क्सवादी शिक्षा को भी नहीं समझते हैं, तो इसमें हमें कोई आश्चर्य नहीं होता है।

ऊपर पेश दूसरे उद्धरण को देखें तो हम पाते हैं कि श्यामसुन्दर इसमें मूढ़ता के नये कीर्तिमान स्थापित करते हैं। इसमें श्यामसुन्दर कहते हैं कि अगर अम्बेडकर ने आज़ादी की लड़ाई में शिरकत की होती और दलितों-उत्पीड़ितों की सत्ता के लिए लड़े होते, तो सत्ता पूंजीपति वर्ग के हाथों में हस्तांतरित नहीं होती और देश के दलितों व मेहनतकशों को पूंजीवाद का नर्क नहीं झेलना पड़ता! ऐसी बातें सुनकर आप अपना माथा पकड़ लेते हैं और सोच में पड़ जाते हैं कि या तो इस पत्र के लेखक का सपने में डा. अम्बेडकर से कोई संवाद हुआ है, या फिर इसका जड़मतित्व अब पागलपन की सीमा-रेखा पर है। जिसने भी डा. अम्बेडकर का पूरा लेखन पढ़ा है, वह जानता है कि अम्बेडकर एक सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के रूप में पूंजीवादी व्यवस्था का ही समर्थन करते थे, हालांकि उस प्रकार के कल्याणकारी राज्य वाली पूंजीवादी व्यवस्था का, जिसकी बात फेबियन पार्टी, ब्रिटिश लेबर पार्टी और कीन्सवादी करते थे। दूसरी बात यह है कि अम्बेडकर एक ड्यूईवादी व्यवहारवादी थे, जिनका मानना था कि श्रम और पूंजी के बीच कोई वास्तविक अन्तरविरोध नहीं होता है और जो *पर्सीव्ड* अन्तरविरोध होता है, वह राज्य/सरकार के हस्तक्षेप के द्वारा दूर किया जा सकता है, जिसे कि अम्बेडकर ने 'समाज की सबसे महत्वपूर्ण संस्था' कहा है जो कि सारे सामाजिक परिवर्तनों को निर्धारित करती है। यह वास्तव में ड्यूई से लिया गया सिद्धान्त ही है, जिसके अनुसार राज्य/सरकार (क्योंकि अम्बेडकर राज्यसत्ता और सरकार में कोई फर्क नहीं करते हैं) समाज में 'सर्वाधिक तार्किक अभिकर्ता' व 'महान मध्यस्थ' होती है। वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त का डा. अम्बेडकर स्पष्ट शब्दो में और बार-बार विरोध करते हैं। जिस चीज़ को वे 'राजकीय समाजवाद' कहते हैं, वह और कुछ नहीं बल्कि एक कल्याणकारी राज्य वाला पूंजीवाद ही है। जैसा कि कार्ल लीब्कनेख्त ने कहा था, "हम जर्मन समाजवादियों से ज्यादा राजकीय समाजवाद के खिलाफ किसी ने संघर्ष नहीं किया है; मुझे अधिक स्पष्ट रूप से किसी ने नहीं दिखलाया है कि राजकीय समाजवाद, राजकीय पूंजीवाद ही होता है।" (कार्ल लीब्कनेख्त, 'हमारी हालिया कांग्रेस') इसलिए अम्बेडकर जहां 'राजकीय समाजवाद' शब्द का प्रयोग

करते हैं, तो मार्क्सवादियों को उसे 'राजकीय पूंजीवाद' पढ़ना चाहिए। वास्तव में, अपने बाद के लेखन में उन्होंने यहां तक भी लिखा है कि कुछ कुंजीभूत उद्योगों को भी निजी हाथों में दिया जा सकता है। क्या श्यामसुन्दर को यह पता है कि सामन्ती भूस्वामियों से ज़मीन लेने के बदले उन्हें सरकारी बॉण्ड दिये जाने का प्रस्ताव डा. अम्बेडकर ने रखा था? यह प्रस्ताव समाजवादी तो दूर, फ्रांसीसी क्रांति जितना क्रांतिकारी जनवादी भी नहीं था, जिसने बिना किसी मुआवज़े के सामन्तों और चर्च की ज़मीन लेने का कार्यक्रम रखा था। क्या श्यामसुन्दर को यह पता है कि राजे-रजवाड़ों को आज़ादी के बाद प्रिवी पर्स देने का प्रस्ताव डा. अम्बेडकर का था? क्या उन्हें पता है कि डा. अम्बेडकर ने उपरोक्त दोनों प्रस्ताव क्यों रखे थे? उन्होंने ये दोनों प्रस्ताव इसलिए रखे थे क्योंकि निजी सम्पत्ति के पवित्र अधिकार में उनकी अटूट आस्था थी और उनका मानना था कि यदि राजे-रजवाड़ों, सामन्ती भूस्वामियों और ज़मींदारों की ज़मीन ली जायेगी, तो उन्हें बदले में कोई न कोई मुआवज़ा मिलना चाहिए और यह मुआवज़ा सरकार देगी। सरकार मुआवज़ा कहां से देगी? वह जो कर जनता से प्राप्त करेगी, उससे। कर क्या होता है? अधिशेष का एक हिस्सा। अधिशेष कौन पैदा करता है? मेहनतकश जनता, मज़दूर और किसान! यानी कि ज़मीन मिलने के बाद भी किसान आबादी सरकार के रास्ते ज़मीन के भूतपूर्व कानूनी-विधिक स्वामियों को लगान का एक हिस्सा देती रहेगी, सरकारी बॉण्डों के ज़रिये। बॉण्ड जैसा कि सभी जानते हैं, किसी भी सिक्योरिटी के समान भविष्य के उत्पादन के एक हिस्से पर दावा होता है और उसमें स्वामित्व का तत्व होता है। *यानी डा. अम्बेडकर जिस भूमि सुधार की बात कर रहे थे, उसमें अभी सामन्ती भूस्वामियों के सम्पत्ति-हरण के कार्य को भी अधूरे तौर पर ही पूरा किया जाना था। यानी एक जनवादी क्रांति के कार्यभार को भी क्रांतिकारी तरीके से पूर्ण करने के अम्बेडकर खिलाफ थे।* ऐसे में, श्यामसुन्दर को किस वटवृक्ष के नीचे इस बोधिज्ञान की प्राप्ति हुई है कि अगर अम्बेडकर आज़ादी की लड़ाई में हिस्सा लेते तो सत्ता हस्तांतरण पूंजीपति वर्ग के हाथों में नहीं होता? अम्बेडकर के किस लेखन या विचार से यह प्रकट होता है कि वे मज़दूर वर्ग के हाथों में सत्ता हस्तांतरण में यकीन करते थे, क्योंकि श्यामसुन्दर के अनुसार यदि अम्बेडकर आज़ादी के संघर्ष में हिस्सा लेते तो सत्ता पूंजीपति वर्ग के हाथों में नहीं जाती? तो किसके हाथों में जाती? श्यामसुन्दर के अनुसार मज़दूर वर्ग के हाथों में! डा. अम्बेडकर की विचारधारा और राजनीति के विषय में ऐसी समझदारी किसी ऐसे व्यक्ति की ही हो सकती है, जो बिना कुछ पढ़े-लिखे फालतू के पाण्डित्य-प्रदर्शन में उतर पड़ा हो। लेकिन ऐसे व्यक्ति और उसके ऐसे उपक्रम की फजीहत ही होती है।

श्यामसुन्दर अपने एसयूसीआई के अतीत से अपने आपको काट नहीं पाए हैं और एसयूसीआई के *सेण्टीमेण्टल* वामपंथियों के समान *स्वीट नथिंग्स* का उच्चारण करते रहते हैं, जैसे कि, 'काश, अगर अम्बेडकर दलितों, मज़दूरों की सत्ता के लिए लड़ होते..." अरे भई, क्यों लड़े होते? कैसे लड़े होते? क्या आपने उनके विचारों में कुछ ऐसा पाया कि वे लड़ना तो मज़दूर सत्ता और समाजवाद के लिए चाहते थे, लेकिन फिर भी पता नहीं क्यों, वे नहीं लड़े? और अगर ऐसी चाहत, ऐसे "काश" की बुनियाद में अम्बेडकर के चिन्तन के आधार पर मौजूद कोई ठोस तथ्य नहीं है तो ऐसे "काश" किसी भी चीज़ पर लगाये जा सकते हैं, जैसे कि, "काश! अंग्रेजों ने भारत को उपनिवेश न बनाया होता!"; "काश, गांधी जी मार्क्सवादी होते"; "काश, गोलवलकर ने एसयूसीआई ज्वाइन कर ली होती"; "काश, श्यामसुन्दर थोड़ा पढ़ाई किया करते", वगैरह। मार्क्सवाद व समाजवाद के विषय में अम्बेडकर के कुछ विचार देखिये, ताकि आप समझ सकें कि श्यामसुन्दर का "काश" मुंगेरीलाल के हसीन सपने वाला "काश" है।

"अब, मेरे मस्तिष्क में यह पृष्ठभूमि और कुछ नहीं बल्कि विश्व में कम्युनिज्म का फैलना है। इस सिद्धान्त को समझना या इसकी वैधता को समझना और सद्धान्त की प्रकृति को समझना एकदम असम्भव है अगर आप उस

समस्या पर नहीं सोचते जो कि आज दुनिया के सामने है -- दुनिया का वह हिस्सा जो कि संसदीय और मुक्त लोकतंत्र में यकीन रखता है, यानी, दुनिया में कम्युनिज्म के प्रसार की समस्या।" (बी. आर. अम्बेडकर, संसदीय बहस, डी., खण्ड 7ए (राज्यों की परिषद), 26 अगस्त 1954, पृ 469-83, अंग्रेजी संस्करण)

"सवाल यह है: क्या कम्युनिज्म और मुक्त लोकतंत्र साथ काम कर सकते हैं? क्या यह उम्मीद करना सम्भव है कि उनके बीच टकराव नहीं होगा? किसी भी रूप में, यह सिद्धान्त मुझे एकदम बेतुका लगता है, क्योंकि कम्युनिज्म एक जंगल की आग के समान है; इसके रास्ते में जो भी आता है यह उसे जलाता और निगलता जाता है।" (वही)

1951 में एक साक्षात्कार में डा. अम्बेडकर ने कहा कि उनकी पार्टी किसी कीमत पर कम्युनिस्ट पार्टी के साथ गठबन्धन नहीं करेगी "क्योंकि इसका सीधा सा कारण यह है कि मेरा कम्युनिज्म में कोई यकीन नहीं है।" जब उनसे पूछा गया कि केवल उनके कम्युनिज्म के खिलाफ होने से क्या उनकी पार्टी को कम्युनिस्ट पार्टी के साथ समझौता करने से वह रोकने की कोशिश करेंगे, तो अम्बेडकर ने कहा: "मैं अपनी पार्टी का गुलाम नहीं हूं। जब तक मैं और मेरी पार्टी सहमत हैं, तब तक हम साथ काम करेंगे, वरना हम अपने-अपने रास्ते जाएंगे।" (पीटीआई को दिया गया साक्षात्कार, नवम्बर, 1951)

ये केवल चन्द उदाहरण हैं जिससे कि आप डा. अम्बेडकर के विचारों को समझ सकें; ऐसे दर्जनों उदाहरण दिये जा सकते हैं। आप खुद देख सकते हैं कि जहां तक अम्बेडकर के विचारों का सवाल है, तो उनमें श्यामसुन्दर के "काश" की कोई जमीन नहीं है और यह कहना कि यदि अम्बेडकर आज़ादी की लड़ाई में हिस्सा लेते तो सत्ता पूंजीपति वर्ग के हाथों में नहीं गयी होती, यानी कि सर्वहारा वर्ग के हाथों में गयी होती, महामूर्खता है। अब हम एक "काश" पेश करते हैं: काश, श्यामसुन्दर कुछ पढ़ने की आदत डाल लेते और उसके बाद लिखते तो बहुत से लोगों का वक्त बचता और बहुत से लोग अज्ञानता नामक राक्षसी शक्ति से बच पाते। अब अगले उद्धरण पर आते हैं।

तीसरे उद्धरण में श्यामसुन्दर ने दूसरे उद्धरण वाली मूर्खता को ही दुहराया है। लेकिन मूर्खता दुहराने से भी मूर्खता ही रहती है, बल्कि और ज्यादा प्रहसनात्मक बन जाती है। यहां श्यामसुन्दर ने कहा है कि अम्बेडकर यदि सुधारवादी न होते तो 1947 में भारत की जनवादी क्रांति पूर्ण हो गयी होती। हम ऊपर दिखला चुके हैं कि जनवादी सुधारों की अम्बेडकर की समझदारी अट्ठारहवीं सदी की फ्रांसीसी क्रांति जितनी आमूलगामी भी नहीं थी। यदि अम्बेडकर के समस्त आर्थिक कार्यक्रम को स्वीकारा गया होता और लागू किया गया होता, तो भी जनवादी क्रांति के कार्यभार अधूरे ही रहते। वास्तव में, अम्बेडकर के आर्थिक कार्यक्रम और नेहरू के आर्थिक कार्यक्रम में कोई बुनियादी अन्तर नहीं था।

चौथे उद्धरण में श्यामसुन्दर ने फिर इतिहास के साथ रजकर बदतमीज़ी की है। श्यामसुन्दर ने दावा किया है कि डा. अम्बेडकर को 1936 में समझ में आ गया था कि सुधारवादी रास्ते से जाति उनमूलन नहीं हो सकता है और इसीलिए उन्होंने 1936 की अपनी रचना *जाति का उन्मूलन* में लिखा था कि जाति का उन्मूलन हो ही नहीं सकता है। श्यामसुन्दर यहीं नहीं रुकते और दावा करते हैं कि दलित जातियों को भी इस बात का अहसास हो चुका है कि डा. अम्बेडकर के रास्ते से जाति उन्मूलन सम्भव नहीं है। ये दोनों इलहाम श्यामसुन्दर को कैसे हुए, यह तो वही बता सकते हैं। जहां तक डा. अम्बेडकर को 1936 तक इस बात का अहसास होने का प्रश्न है कि सुधारवादी रास्ते से जाति का उन्मूलन नहीं हो सकता है, यह श्यामसुन्दर की कपोलकल्पना है। जब *जाति का उन्मूलन* में अम्बेडकर इस नतीजे पर पहुंचे कि जाति का उन्मूलन नहीं हो सकता है, तो इसका आधार यह नहीं था कि अब वे सुधारवादी रास्तों की सीमा समझ गये थे और जान गये थे कि सुधारवाद से जाति उन्मूलन नहीं हो सकता। अगर ऐसा होता तो

1936 के बाद वे जाति उन्मूलन का कोई आमूलगामी कार्यक्रम पेश करते। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। उल्टे सुधारवाद के रास्ते पर अम्बेडकर ने इण्डिपेण्डेण्ट लेबर पार्टी के दौर के उत्तरार्द्ध से ही और भी ज्यादा दृढ़ता से अमल किया। 1941-42 में शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन बनाने का फैसला और फिर वायसराय की परिषद् में श्रम सदस्य के रूप में शामिल होना और युद्ध प्रयास में ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता की सहायता करने का कार्य इस बात को बिना किसी शक़ साबित कर देता है। स्वयं अम्बेडकर का 1936 से 1956 तक का लेखन देखा जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि अम्बेडकर ड्यूईवादी व्यवहारवाद की उदार बुर्जुआ सुधारवादी विचारधारा पर अन्तिम तक अडिग रहे थे, जिसके बुनियादी पूर्वाग्रह ही यही है कि समाज और प्रकृति में कोई भी परिवर्तन क्रमिक होता है और यह परिवर्तन भी 'नीचे से' यानी संगठित जनता के बल प्रयोग से नहीं, बल्कि ऊपर से 'सबसे तार्किक अभिकर्ता', यानी राज्य द्वारा किया जाता है। जिसने भी अम्बेडकर का लेखन पढ़ा है वह देख सकता है कि इन ड्यूईवादी व्यवहारवाद के बुनियादी उसूलों के प्रति अम्बेडकर हमेशा प्रतिबद्ध रहे थे। फिर अम्बेडकर ने जब 1936 में *जाति का उन्मूलन* में यह कहा कि जाति का उन्मूलन नहीं हो सकता तो उनका क्या अर्थ था? अगर आप इस रचना को श्यामसुन्दर के समान न पढ़कर ढंग से आद्योपान्त और समझकर पढ़ें तो आप पाते हैं कि डा. अम्बेडकर का यह कहना है कि हिन्दू धर्म के दायरे के भीतर जाति का उन्मूलन असम्भव है। क्यों? डा. अम्बेडकर तर्क देते हैं कि हर समाज का अग्रणी वर्ग उसका बुद्धिजीवियों का वर्ग होता है। समाज में किसी भी परिवर्तन को लाने वाली शक्ति, यानी सरकार या राज्यसत्ता, को यही वर्ग कोई भी विशिष्ट परिवर्तन करने के लिए प्रेरित कर सकता है। लेकिन हिन्दू समाज का बुद्धिजीवी वर्ग उसका ब्राह्मण वर्ग है जो कि जाति उन्मूलन के लिए कभी राज़ी नहीं होगा। यही कारण है कि हिन्दू समाज के दायरे के भीतर जाति का उन्मूलन नहीं हो सकता है। चूंकि डा. अम्बेडकर स्वयं भी जानते थे कि धर्म परिवर्तन करने से भी जाति का उन्मूलन नहीं हो जायेगा, जैसा कि उन्होंने अपने एक भाषण में भी कहा है, इसलिए 1936 में यह घोषणा करने के बावजूद, कि वे हिन्दू धर्म में पैदा हुए हैं, लेकिन वे एक हिन्दू के रूप में नहीं मरेंगे, उन्होंने तत्काल धर्म परिवर्तन नहीं किया, बल्कि मरने से ठीक पूर्व 1956 में किया। इसका कारण यह था कि वह हिन्दू समाज के भीतर सुधार की गुंजाइश की पड़ताल जारी रखे हुए थे। इसलिए श्यामसुन्दर जिन शब्दों में डा. अम्बेडकर के धर्मांतरण की प्रतिज्ञा के पालन का गुणगान करते हैं, उसमें वैसा गुणगान करने वाला कुछ भी नहीं है। वस्तुत: अगर श्यामसुन्दर ने विकीपीडिया से आगे जाकर कुछ संजीदा पढ़ाई की होती तो उन्हें पता होता कि धर्मांतरण के बारे में भी डा. अम्बेडकर का पहला सन्दर्भ 1927 की जलगांव डिप्रेस्ड क्लासेज़ कॉनफरेंस के उनके भाषण में मिलता है। उसके बाद से ही वे धर्मांतरण के लिए उचित धर्म के चयन हेतु जांच कर रहे थे। श्यामसुन्दर शायद यह भी नहीं जानते होंगे कि उन्होंने जिस धर्म पर पहले विचार किया था वह सिख धर्म था। शायद वह यह भी नहीं जानते होंगे कि उन्होंने सिख धर्म का चुनाव क्यों किया था। सिख धर्म उनकी पहली पसन्द डा. मुंजे की सलाह पर बना था, जो कि हिन्दुत्व के शुरुआती विचारकों में से एक थे। मुंजे की सलाह पर अम्बेडकर ने यह माना और अपने अनुसरण करने वालों को स्पष्ट शब्दों में कहा भी कि सिख धर्म को चुनकर दलित केवल हिन्दू धर्म से बाहर जाएंगे, हिन्दू सभ्यता से नहीं और इस प्रकार दलित हिन्दू सभ्यता के प्रति अपने ऋण को चुका सकेंगे। जब अम्बेडकर को उनके कुछ अनुयायियों ने, जिन्हें अम्बेडकर ने सिख धर्म के अध्ययन के लिए पंजाब भेजा था, बताया कि सिख धर्म के भीतर भी जातिगत उत्पीड़न से कोई छुटकारा नहीं है और जट्ट किसान भी दलितों का वैसा ही बर्बर दमन करते हैं और साथ ही जब सिखों के नेता मास्टर तारा सिंह ने दलितों के व्यापक पैमाने पर सिख धर्म में धर्मांतरण से इंकार कर दिया, तब डा. अम्बेडकर ने सिख धर्म के विकल्प पर विचार करना छोड़ा। इस्लाम और ईसाई धर्म पर उन्होंने विचार ही नहीं किया क्योंकि वह भारतीय समाज व सभ्यता का मूल रूप से अंग नहीं था और वह मानते थे कि दलित यदि इस्लाम या ईसाई धर्म में गये तो वे "विराष्ट्रीकृत" (denationalize) हो जाएंगे। बाद में बौद्ध धर्म के अध्ययन के बाद अम्बेडकर ने 1940 के दशक में इस धर्म के विकल्प को चुन लिया था, लेकिन तब भी वे तुरन्त धर्मांतरित नहीं हुए

क्योंकि उन्हें पता था कि सामाजिक-आर्थिक यथार्थ के अंग होने के कारण जाति का उन्मूलन धर्मांतरण से नहीं हो सकता है; यह हिन्दू धर्म और ब्राह्मणवाद पर एक जवाबी कार्रवाई के रूप में कुछ अहमियत रख सकता है, लेकिन इससे जाति खत्म नहीं होगी। मृत्यु से कुछ समय पहले 1956 में धर्मांतरण करना डा. अम्बेडकर की एक आखिरी हताश नीति थी। *इसलिए श्यामसुन्दर का डा. अम्बेडकर द्वारा धर्मांतरण की "अपनी इस प्रतिज्ञा को सच कर दिखाने" पर ऐसे हर्षातिरेक से मूर्छावस्था में पहुंच जाने का कोई कारण नहीं है। इसका एक ही कारण हो सकता है कि श्यामसुन्दर ने अम्बेडकर की रचनाओं और उनके राजनीतिक प्रैक्टिस के इतिहास का कोई अध्ययन नहीं किया है, और क्रांतिकारी साहस के अभाव में वे डा. अम्बेडकर की विचारधारा और राजनीति की कोई बेबाक मार्क्सवादी आलोचना करने की बजाय तुष्टिकरण की नीति से दलितों को रिझाना चाहते हैं।* लेकिन फिर उन्हें यह भी याद आता है कि सुधारवाद की थोड़ी आलोचना तो करनी चाहिए! फिर वे दबे शब्दों में सुधारवाद के प्रति थोड़ा बुदबुदाते हैं, लेकिन कुछ ही वाक्य बाद वे फिर से बाबा साहब के महिमा-मण्डन में लहालोट हो जाते हैं और एसयूसीआई के सेण्टिमेण्टल वामपंथियों के समान डा. अम्बेडकर के किसी कदम पर उल्लास के ऐसे अतिरेक में आ जाते हैं कि ज़मीन पर लोटमपोट हो जाते हैं, तो किसी खुले तौर पर सुधारवादी कदम पर अफसोस में आ जाते हैं कि 'दुर्भाग्य की बात है कि बाबा साहब इतने प्रतिभावान और भुक्तभोगी होते हुए भी दलितों की मुक्ति के संघर्ष के सुधारवादी ढंग तक ही सीमित रहे' और कि 'अगर उन्होंने सुधारवाद की बजाय क्रांतिवाद का रास्ता चुना होता तो जनवादी क्रांति पूर्णता तक पहुंच जाती या सत्ता पूंजीपति वर्ग के हाथ नहीं आती और हमें पूंजीवाद का नर्क नहीं झेलना पड़ता', आदि। *ये किस प्रकार की भाषा है? क्या कोई मार्क्सवादी इस प्रकार का विश्लेषण कर सकता है, अगर छूट देकर इस बचकानेपन और बौनेपन को विश्लेषण कहा जाय? वास्तव में, श्यामसुन्दर हैमलेटियन दुविधा में फंसे हुए हैं: 'अम्बेडकर की आलोचना करूं या न करूं? अगर नहीं करता तो मेरे कार्यकर्ता क्या कहेंगे? अगर कर देता हूं तो दलित साथी बुरा मान जाएंगे! अच्छा, ऐसा करता हूं कि थोड़ी सी करता हूं और फिर थोड़ा महिमा-मण्डन भी कर दूंगा!'* यह है श्यामसुन्दर की चिन्तन प्रणाली जो कुछ कूपमण्डूकता और जड़बुद्धि से पैदा होती है और कुछ क्रांतिकारी साहस के अभाव और तुच्छ किस्म के अवसरवाद से।

इस तुच्छ किस्म के अवसरवाद में थोड़ी बेईमानी और थोड़ा अनैतिहासिक नज़रिया जोड़ दें, तो भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन और दलित संघर्षों में उसकी हिस्सेदारी के प्रति श्यामसुन्दर का रवैया निकलकर सामने आता है। श्यामसुन्दर के पूरे पेपर में कहीं भी संशोधनवादी रास्ते पर चल पड़ने के पहले के कम्युनिस्ट आन्दोलन और दलित संघर्षों में उसकी भूमिका और साथ ही 1967 में संशोधनवाद से विच्छेद के बाद क्रांतिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन और दलित संघर्षों में उसकी भूमिका के विषय में एक शब्द भी नहीं कहा गया है। तेलंगाना के संघर्ष के दौरान अम्बेडकर की समझौतापरस्ती को एक समझौतापरस्त तरीके से इंगित किया गया है, लेकिन यह नहीं बतलाया गया कि यह महान किसान विद्रोह कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में हुआ था। यह बेईमानी इन महाशय ने इसलिए की है क्योंकि इनकी थीसिस है कि सी.पी.आई. जन्म से ही संशोधनवादी पार्टी थी और अगर तेलंगाना के संघर्ष को क्रांतिकारी कहा जाता है, तो यह थीसिस श्यामसुन्दर को कचरापेटी में फेंकनी पड़ेगी। लेकिन इतने साल से जहां खूंटा गाड़े हैं, उसे अब उखाड़ें कैसे? साथ ही, जब नक्सलबाड़ी विद्रोह की बात की गयी है, तो भी यह नहीं बताया गया कि इसके नेतृत्व में सी.पी.आई. (एम.एल.) थी; मगर नक्सलबाड़ी विद्रोह के दौरान संशोधनवादी हो चुके कम्युनिस्ट नेतृत्व और सी.पी.एम. को अवश्य कोसा गया है, और उचित ही कोसा गया है। लेकिन यह श्यामसुन्दर का *सेलेक्टिव* नज़रिया है, जो उनकी राजनीतिक वंशावली से उन्हें विरासत में मिला है: यानी एसयूसीआई की विरासत से। भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन और कम्युनिस्ट विचारों की शुरुआत और अन्त उनके लिए भगतसिंह हैं और सम्भवत: श्यामसुन्दर को यह लगता है कि उसके बाद से कम्युनिस्ट विरासत के पुनरुज्जीवन का काम सीधे

श्यामसुन्दर के नेतृत्व में 'जनसंघर्ष मंच हरियाणा' ने ही किया है! ऐसे आत्मगौरव के मतिभ्रम (delusions of self-grandeur) अक्सर उन बेवकूफों में पैदा हो जाते हैं, जिन्होंने इतिहास का अध्ययन नहीं किया है। भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन में दो लाइनों के संघर्ष का एक इतिहास रहा है, चाहे आम तौर पर उसकी बौद्धिक स्थिति कितनी ही दरिद्र क्यों न रही हो; 1925 से 1951 तक सी.पी.आई. के इतिहास में राजनीतिक और विचारधारात्मक कमज़ोरियां चाहे कितनी भी रही हों, मगर इस बात से कोई इंकार नहीं कर सकता है कि वह एक क्रांतिकारी कम्युनिस्ट पार्टी थी। 1951 के बाद वह संशोधनवाद के मार्ग पर विपथगमन करती है। 1967 में नक्सलबाड़ी विद्रोह और उसके बाद 1969 में सी.पी.आई. (एम.एल.) के गठन को भी एक क्रांतिकारी कम्युनिस्ट पार्टी की शुरुआत माना जाना चाहिए, चाहे वह वामपंथी दुस्साहसवाद के गड्ढे में क्यों न जा गिरी हो, और चाहे क्रांति के कार्यक्रम के प्रश्न पर उसकी समझदारी ग़लत ही क्यों न रही हो। रणनीति और आम रणकौशल तय के करने के मामले में जो भी कमज़ोरियां रही हों, 1951 के पहले सी.पी.आई. और 1969 के बाद सी.पी.आई. (एम.एल.) और उसके टूट-फूट और बिखराव के बाद पैदा हुईं तमाम मार्क्सवादी-लेनिनवाद ग्रुपों और पार्टियों को क्रांतिकारी कम्युनिस्ट शिविर का ही हिस्सा माना जायेगा, क्योंकि इन्होंने संशोधनवाद से निर्णायक विच्छेद किया और राज्य और क्रांति के प्रश्न पर लेनिनवादी अवस्थिति को अपनाया। और जहां कहीं भी ऐसे क्रांतिकारी कम्युनिस्ट ग्रुप या पार्टियां थीं, वहां-वहां दलित संघर्षों में इनकी नेतृत्वकारी भूमिका रही है, चाहे वह बिहार, झारखण्ड, बंगाल, उड़ीसा हो या फिर आंध्र प्रदेश, कर्नाटक आदि। इनकी आलोचना बहुत से प्रश्नों पर की जा सकती है, लेकिन उनके क्रांतिकारी चरित्र और दलित संघर्षों में उनकी बहादुराना भूमिका पर श्यामसुन्दर के समान एक चुप्पी का षड्यन्त्र रचना यही दिखलाता है कि एसयूसीआई से मिली अवसरवाद और बौद्धिक बेईमानी की विरासत अभी तक एलबैट्रॉस के समान श्यामसुन्दर के कन्धों पर लटकी हुई है। साथ ही, श्यामसुन्दर की कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास पर यह साज़िशाना चुप्पी उनके अज्ञान और अनैतिहासिक नज़रिये को भी दिखलाती है।

II. रूसी क्रांति की प्रक्रिया के विषय में श्यामसुन्दर द्वारा पुराने पिटे तर्कों को गंजे हो जाने की हद तक फिर से घिसा जाना

2012 में रूसी क्रांति के प्रश्न पर और भारत में अगस्त 1947 में क्रांति की मंजिल के प्रश्न पर एक बहस हुई थी जो पहले एक पब्लिक डिबेट के रूप में हुई थी और बाद में लिखित रूप में दो राउण्ड्स तक जारी रही थी। अपने नये पत्र में श्यामसुन्दर ने आरोप लगाया है कि हमारा मानना है कि भूमि प्रश्न हल न होने पर जनवादी क्रांति पूर्ण नहीं होती और पहले जनवादी क्रांति के प्रश्न को हल करना पड़ता है, तभी समाजवादी क्रांति की मंजिल आती है, भले ही राज्यसत्ता पर पूंजीपति वर्ग काबिज़ हो गया हो। यह एक पुराने झूठ को दुहराना है। हम स्पष्ट तौर पर मानते हैं कि अगस्त 1947 में सत्ता हस्तान्तरण के साथ ही तत्काल समाजवादी क्रांति की मंजिल नहीं आ गयी, लेकिन इसका कारण यह नहीं है कि हम "जनवादी क्रांति को पूर्ण करने की जिद" थामे बैठे हैं। यह बात स्पष्ट हो जाये इसके लिए मैं 1 अक्तूबर 2012 को श्यामसुन्दर को दिये गये लिखित जवाब का एक हिस्सा उद्धृत कर रहा हूं:

"यहां पर भी श्यामसुन्दर ने झूठ के पुलिन्दे के साथ शुरुआत की है। उनका कहना है कि हमारे संगठन का यह मानना है कि जब तक भूमि प्रश्न हल न हो तब तक समाजवादी क्रांति का नारा देना पूंजीवादी क्रांति के चरण को लांघ जाने की बात करना होगा; हमारे पूरे पेपर में 'पूंजीवादी क्रांति के चरण को लांघ जाने' जैसे शब्दों का इस्तेमाल नहीं है।"

(अभिनव, 'श्यामसुन्दर के राजनीतिक दीवालियेपन के बारे में एक बार फिर से', 1 अक्तूबर, 2012)

2012 में हमारे द्वारा प्रस्तुत श्यामसुन्दर की लम्बी आलोचना में इन नुक्तों पर हमने अपने विचारों को रूसी इतिहास, लेनिन के लेखन व अन्य मूल स्रोतों से उद्धरण के साथ स्पष्ट किया है। लेकिन श्यामसुन्दर इस बहस के विषय में एक साजिशाना चुप्पी बनाये हुए हैं और इन नुक्तों पर अपने मूर्खतापूर्ण विचारों को बस नये सिरे से दुहराकर हम पर बेजा आरोप मढ़ रहे हैं। यहां नये सिरे से श्यामसुन्दर बेईमानी कर रहे हैं और 2012 में हुई इस बहस का कोई ब्यौरा या उस समय हुए लिखित विनिमय को परिशिष्ट के रूप में देने, या उस बहस का कोई भी सन्दर्भ देने से भाग रहे हैं और हमारे ऊपर वही पुराना झूठा आरोप मढ़ रहे हैं। इसी को पिटे हुए तर्कों को गंजे होने की हद तक घिसना कहते हैं। इसके अलावा, 2012 में जब पब्लिक डिबेट हुई तो श्यामसुन्दर के संगठन ने उसका वीडियो भी बनाया था। हम वह वीडियो मांगते-मांगते थक गये, लेकिन उन्होंने हमें वीडियो नहीं दिया। हम अभी भी कहते हैं कि उस वीडियो में से सांगठनिक विवरणों के हिस्सों को हटाकर समस्त राजनीतिक बहस को पब्लिक डोमेन में डाल दें और साथ ही जो लिखित विनिमय हुआ है, उसे भी सांगठनिक विवरण हटाकर पब्लिक डोमेन में डाल दें। इससे तो आन्दोलन की कतारों का राजनीतिक शिक्षण ही होगा। लेकिन ऐसा कुछ भी करने की बजाय इस बहस के मूल मुद्दों पर श्यामसुन्दर ने अपनी पुरानी बेवकूफियों को अपने नये पत्र में दुहरा दिया है और हम पर झूठे आरोप मढ़ दिये हैं कि हम भूमि क्रांति के पूरा होने तक समाजवादी क्रांति का नारा उठाना गलत मानते हैं, जबकि हमारी ऐसी अवस्थिति कभी रही ही नहीं है, जैसा कि 2012 में हमारे द्वारा दिये गये जवाब के उपरोक्त उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है। चूंकि नये पत्र में श्यामसुन्दर इस पूरी बहस पर साजिशाना चुप्पी साध गये हैं और नये सिरे अपनी मूर्खताएं और अपने झूठे आरोप दुहराने की धृष्टता पर उतर आए हैं, इसलिए हम अपने द्वारा दिये गये जवाब को पब्लिक डोमेन में डाल रहे हैं। इस बहस में उन सभी मूर्खताओं का जवाब आपको मिल जाएगा जो कि रूसी क्रांति के विषय में श्यामसुन्दर ने अपने नये पत्र में की हैं। सभी पाठक उपरोक्त बहस के नुक्तों और मौजूदा पत्र में श्यामसुन्दर द्वारा दुहरायी गयी मूर्खताओं के खण्डन के लिए हमारे जवाब को इस लिंक (http://www.mazdoorbigul.net/wp-content/uploads/debate-reply-shyamsundar.pdf) पर पढ़ सकते हैं। अगर श्यामसुन्दर बौद्धिक बेईमानी छोड़कर हमें वीडियो देने पर राज़ी होते हैं, तो हम वह वीडियो भी पब्लिक कर देंगे, ताकि सभी पाठक इस पूरी बहस को स्पष्ट तौर पर समझ सकें कि श्यामसुन्दर मूर्खता और बौद्धिक बेईमानी के किस स्तर पर खड़े हैं। हम नये सिरे से पुरानी बेवकूफियों का नया जवाब देना ज़रूरी नहीं समझते हैं। हमारा पुराना जवाब ही इन बेवकूफियों को श्यामसुन्दर द्वारा दुहराये जाने के प्रत्युत्तर में पर्याप्त है। यहां पर हम श्यामसुन्दर द्वारा जाति प्रश्न पर रखे गये विचार और जाति प्रश्न पर हमारे विचारों की आलोचना के तौर पर रखे गये विचारों पर अपनी अवस्थिति रखने पर केन्द्रित करेंगे, अन्यथा यह निबन्ध आवश्यकता से ज्यादा लम्बा हो जायेगा। जैसा कि हम ज़िक्र कर चुके हैं, मूर्ख व्यक्ति 10 पृष्ठों में जो मूर्खता करता है, उसका जवाब वैज्ञानिकों को 20 पृष्ठों में देना पड़ता है। इसीलिए रूसी क्रांति और फरवरी 1917 की अगस्त 1947 से तुलना और भारत में अगस्त 1947 में क्रांति की मंजिल, जनवादी क्रांति और समाजवादी क्रांति के बीच के सम्बन्ध और उनके बीच की राजनीतिक प्रक्रिया के विषय में जिन श्यामसुन्दरीय मूढ़ताओं का पहले ही जवाब दिया जा चुका है, उन्हें दुहराने की बजाय इसीलिए हमने यहां अपने पुराने जवाब का ही सन्दर्भ पेश कर दिया है। हम पाठकों से आग्रह करेंगे कि दिये हुए लिंक पर जाकर इस बहस का अवश्य अध्ययन करें।

III. जाति प्रश्न और जाति प्रश्न पर हमारे विचारों के बारे में श्यामसुन्दर के विचार: मूढ़ता के नये सीमान्तों का श्यामसुन्दरीय संधान

लेनिन ने 'राज्यसत्ता क्या है?' नामक अपने प्रसिद्ध भाषण में, जो कि उन्होंने 1919 में स्वेर्दलोव विश्वविद्यालय में दिया था, एक बड़े मार्के की बात कही है जो सभी मार्क्सवादियों-लेनिनवादियों को याद रखनी चाहिए। लेनिन ने कहा है कि किसी प्रश्न को समझने का सबसे वैज्ञानिक और तार्किक तरीका होता है, उसे ऐतिहासिक तौर पर समझना। यानी किसी भी परिघटना को समझने के लिए उसके जन्म, विकास और इतिहास में जाना चाहिए। देखिये लेनिन क्या लिखते हैं:

"इस प्रश्न को अधिकतम सम्भव वैज्ञानिक रूप से अप्रोच करने के लिए हमें राज्यसत्ता, उसके उद्भव और विकास के इतिहास पर एक सरसरी निगाह डालनी होगी। समाज विज्ञान के किसी प्रश्न पर सबसे भरोसेमंद चीज़, और जो इस प्रश्न को सही तरीके से अप्रोच करने और विवरणों के अम्बार या विरोधी रायों के अम्बार में खो जाने से बचने की आदत बनाने के लिए अनिवार्य है --जो चीज़ इस प्रश्न को वैज्ञानिक रूप से समझने के लिए सबसे अहम है, वह है इसके पीछे मौजूद ऐतिहासिक सम्बन्ध को न भूलना, *हर प्रश्न को इस दृष्टिकोण से परखना कि दी गयी परिघटना इतिहास में किस प्रकार पैदा हुई और उसके विकास में प्रधान चरण कौन-से थे...ताकि यह परखा जा सके कि आज वह परिघटना क्या बन गयी है*।" (लेनिन, *राज्यसत्ता क्या है?,* अनुवाद और ज़ोर हमारा)

जैसा कि आप देख सकते हैं कि लेनिन का मानना है कि हर प्रश्न का अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टिकोण से किया जाना चाहिए। जाति प्रश्न और भारतीय इतिहास में उसकी भूमिका का अध्ययन भी इसी दृष्टिकोण से हो सकता है। दूसरे शब्दों में, बिना इस बात का अध्ययन किये कि जाति व्यवस्था किस प्रकार पैदा हुई, कब पैदा हुई, किस प्रकार अलग-अलग चरणों में विकसित हुई और आज वह विकास प्रक्रिया कहां पहुंची है, आप जाति के प्रश्न को उसकी ऐतिहासिकता (historicity) और उसकी समकालीनता (contemporaneity) में नहीं समझ सकते हैं।

जब हम श्यामसुन्दर के जाति प्रश्न सम्बन्धी विचारों को पढ़ते हैं, तो पहली बात जो दिमाग़ में आती है वह यह कि इन महाशय ने जाति व्यवस्था के इतिहास के बारे में कोई गम्भीर अध्ययन नहीं किया है; सम्भवत: कोई अध्ययन नहीं किया है। बिना इसके यह सम्भव ही नहीं है कि कोई इतने विचित्र रूप से मूढ़तापूर्ण विचार पेश करे। अब हम आपका नुक्तेवार इन मूर्खताओं से परिचय कराएंगे और साथ ही इन मूर्खताओं का खण्डन करते हुए आपको सम्बन्धित विषय में ऐतिहासिक तौर पर सही जानकारी से भी अवगत कराएंगे। प्रस्तुत पत्र में श्यामसुन्दर ने कुछ पूर्वनिर्धारित धारणाएं (assumptions) रखीं हैं जिन्हें आकाशवाणी समान सत्य (axiomatic) मानकर हमारे जाति व्यवस्था सम्बन्धी विचारों की आलोचना रखी गयी है। सबसे पहले हम इन प्रमुख धारणाओं की पड़ताल करते हुए यह दिखलाएंगे कि श्यामसुन्दर को जाति व्यवस्था के इतिहास के बारे में उतना पता है, जितना भक्तों को प्राचीन भारत के बारे में पता है।

श्यामसुन्दर की पूरी आलोचना में उनकी प्रमुख पूर्वनिर्धारित धारणा यह है: जाति व्यवस्था सामन्ती उत्पादन सम्बन्ध का प्रतिनिधित्व करती है और इसलिए आज उसे सामन्ती अवशेष माना जाना चाहिए और इसीलिए हमारे ग्रुप द्वारा आज की जाति व्यवस्था को 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' कहना ग़लत है, क्योंकि यह ऐसा होगा जैसे हम किसी 'पूंजीवादी सामन्ती व्यवस्था' की बात करें। अब यह पूरी धारणा ही ऐसी अनैतिहासिक, अज्ञानतापूर्ण और

कूपमण्डूकतापूर्ण धारणा है और यह इतने स्तरों पर ग़लत है कि यह विडम्बना ही है कि इसका जवाब भी देना पड़ रहा है।

पहली बात तो यह है कि जाति व्यवस्था भारत में सामन्ती व्यवस्था के उदय के पहले ही अस्तित्व में आ चुकी थी। आरम्भिक वैदिक युग या ऋग्वैदिक काल की समाप्ति तक उस दौर के समाज के भ्रूण वर्ग विभाजन के रूप में वर्ण व्यवस्था अस्तित्व में आयी, लेकिन अभी इसने आज की वर्ण-जाति व्यवस्था का रूप नहीं लिया था क्योंकि अभी वर्ण के ऋग्वैदिक सन्दर्भ में न तो आनुवांशिक श्रम विभाजन की बात थी, न सजातीय विवाह और न ही अस्पृश्यता की। आनुवांशिक श्रम विभाजन और सजातीय विवाह के दो प्रमुख गुणों के अस्तित्व में आने के साथ वर्ण-जाति व्यवस्था ने वह स्वरूप ग्रहण करना शुरू किया, जिस रूप में उसे हम जानते हैं। ये परिवर्तन वैदिक काल के उत्तरार्द्ध, यानी 1000 ईसा पूर्व से 500 ईसा पूर्व के बीच हो रहे थे, यानी ऋग्वैदिक काल के बाद के दौर में। छठीं व पांचवीं शताब्दी ईसा पूर्व में भारत के गंगा के मैदानों में राज्य निर्माण की प्रक्रिया एक मुकम्मिल मुकाम तक पहुंची और इसी दौर में हम प्रथम जनपदों का उदय देखते हैं। इन जनपदों का स्वरूप कबीलाई गणतांत्रिक राज्यों (tribal republics) जैसा था। इन्हीं में से राजतन्त्रीय राज्यसत्ता का उदय हुआ, जिसमें से मौर्य राज्य प्रथम था और बाद में भारतीय उपमहाद्वीप के बड़े हिस्से में उसका साम्राज्य कायम हुआ। इस बीच हम *हीन शूद्रों* के रूप में शूद्रों के एक हिस्से के प्रति ब्राह्मणवादी ग्रन्थों में पहली बार एक प्रदूषण का भाव प्रकट होते देखते हैं, जो कि आगे चलकर अस्पृश्यता के तमाम स्रोतों में से एक स्रोत बना; मिसाल के तौर पर, चाण्डाल जाति के बारे में इस दौर के ब्राह्मणवादी ग्रन्थों में विकर्षण का भाव प्रकट किया गया था, हालांकि यह अभी पूर्ण रूप में अस्पृश्यता के तौर पर विकसित नहीं हुआ था। राज्य निर्माण और शासक वर्ग के रूप में क्षत्रिय-ब्राह्मण वर्णों के गठजोड़ के सुदृढ़ होने के साथ, और खेतिहर अर्थव्यवस्था के जड़ें जमाने तथा स्वस्थ मात्रा में व नियमित तौर पर अधिशेष उत्पादन के सुनिश्चित होने के साथ शारीरिक श्रम करने वाले वर्गों के दमन को ब्राह्मणवादी विचारधारा के उपकरण के ज़रिये संरचनात्मक रूप देने की शासक वर्गों की आवश्यकता पैदा हो चुकी थी। हीन शूद्रों में चाण्डाल जैसी जातियों को शामिल किया गया, चर्मकार का पेशा निम्न कोटि का पेशा बना दिया गया (ज्ञात हो कि वैदिक काल में चर्मकार का पेशा एक सम्मानित पेशा माना जाता था क्योंकि अधिकांश वैदिक कर्मकाण्डों के दौरान इन कर्मकाण्डों की सामग्री केवल चमड़े के झोलों में ले जाने की आज्ञा थी; मगर उत्पादन सम्बन्ध बदलने के साथ जाति व्यवस्था में भी अहम परिवर्तन हो रहे थे)। इसी दौर में, कई नयी जनजातियां वैदिक आर्यों की सभ्यता के पूर्व में विस्तार के साथ वैदिक समाज में शामिल हो रही थीं और अक्सर वे वैदिक समाज में विभेदीकृत तौर पर सम्मिलित हो रही थीं; जैसे कि इन जनजातियों का पुरोहित वर्ग नयी ब्राह्मण जातियों के रूप में, योद्धा व राजा वर्ग नयी क्षत्रिय जातियों के रूप में और अन्य आम आबादी शूद्र अथवा पंचम वर्ण के रूप में शामिल हो रही थी। विशेष तौर पर वे जनजातियां जो अभी तक खानाबदोश चरवाहों का जीवन व्यतीत कर रही थीं, पूरी की पूरी पंचम वर्ण के तौर पर या फिर हीन शूद्र जातियों के रूप में वैदिक समाज में शामिल हो रही थीं। अशोक का दौर आते-आते कई ऐसी पंचम वर्ण की जातियां वैदिक समाज में सम्मिलित हो चुकी थीं। शारीरिक श्रम करने वाले वर्गों की अधीनस्थता को ढांचागत बनाने की प्रक्रिया में ही पंचम वर्ण की जातियों को अस्पृश्य मानने की शुरुआत ब्राह्मणों ने की और बाद में इसी अस्पृश्यता को कर्मकाण्डीय धार्मिक वैधीकरण भी प्रदान कर दिया। लेकिन मौर्य काल में अस्पृश्य जातियों की संख्या कम थी। मौर्य काल के बाद और विशेष तौर पर गुप्त काल और उसके बाद के दौर में अस्पृश्य जातियों की संख्या में भारी वृद्धि हुई। इस पूरी प्रक्रिया को विस्तार से समझने के लिए आप इन लेखों और वीडियो व्याख्यानों को देख सकते हैं: (http://www.mazdoorbigul.net/anti-caste-material) ये लेख व व्याख्यान जाति व्यवस्था के इतिहास पर नवीनतम मार्क्सवादी ऐतिहासिक शोध पर आधारित हैं। मौर्य काल की शुरुआत तक दास प्रथा सुदृढ़ हो चुकी थी,

हालांकि इसके बीज वर्ग समाज के अस्तित्व में आने के साथ ही पड़ चुके थे। मौर्य काल में हमें उत्पादक श्रम में बड़े पैमाने पर दास श्रम की भागीदारी के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं, हालांकि प्राचीन यूनानी या रोमन दास प्रथा के मुकाबले यह कम ही था। हमारे यहां दास प्रथा का चरित्र रोमन चैटल दासता से भिन्न था। लेकिन अगर हम दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में दास प्रथा का अध्ययन करें, तो उनका चरित्र रोमन या किसी भी अन्य देश के इतिहास में अस्तित्व में आयी दास प्रथा से भिन्न था; रूप के स्तर पर इन विविधताओं के पीछे की सारवस्तु में कोई बुनियादी अन्तर नहीं था; दास प्रथा के शुरुआत होने का प्रमुख महत्व इस बात में है कि यह सामुदायिक जीवन व अर्थव्यवस्था के टूटने और वर्ग समाज के अस्तित्व में आने का परिचायक है; इससे कोई फर्क नहीं पड़ता की दासों की आबादी का कितना हिस्सा प्रत्यक्ष उत्पादक श्रम में लगा हुआ था और कितना हिस्सा घरेलू दासों के रूप में मौजूद था। डी. डी. कोसाम्बी ने इस पूरे तर्क को स्पष्टता के साथ समझाया है। यह दौर वास्तव में प्राक्-सामन्ती उत्पादन व्यवस्था का दौर था, जिसमें दास श्रम प्रमुखता के साथ मौजूद था। इसके चरित्र-चित्रण को लेकर कई बहसें हैं, लेकिन इस बात पर सभी एकमत हैं कि यह सामन्ती व्यवस्था नहीं थी। यह दौर मुद्रा अर्थव्यवस्था और शहरीकरण तथा अपेक्षाकृत बड़े पैमाने पर माल उत्पादन का दौर था; इस दौर में व्यापार और वाणिज्य का भी विचारणीय विकास हुआ था। *इतना स्पष्ट है कि गुप्त काल से पहले ही, जो कि भारतीय इतिहास में सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों की शुरुआत का दौर है, वर्ण-जाति व्यवस्था के तीन मूल आयाम पैदा हो चुके थे: आनुवांशिक श्रम विभाजन, सजातीय विवाह की परम्परा और अस्पृश्यता तथा खान-पान सम्बन्धी पूर्वाग्रह।*

यहां यह बताना भी ज़रूरी है कि वर्ण व्यवस्था जो कि आरंभिक वैदिक समाज के अन्त के दौर में वैदिक समाज के भ्रण रूप में पैदा हुए वर्ग विभाजन को दिखा रही थी, बाद में वर्ण-जाति व्यवस्था के रूप में विकसित इसलिए हुई क्योंकि समाज में अधिशेष उत्पादन, निजी सम्पत्ति, पितृसत्तात्मक परिवार, और राज्य का निर्माण सातवीं सदी ईसा पूर्व से गुणात्मक रूप से नयी मंजिल में पहुंच गया था और पांचवी सदी ईसा पूर्व आते-आते इसने एक मुकम्मिल मुकाम हासिल कर लिया था। ब्राह्मणों ने हर युग और हर दौर के शासक वर्ग के बुद्धिजीवियों के समान वैदिक आर्य समाज के शासक वर्ग (जिसका कि वे स्वयं भी अंग थे) के शासन के लिए विचारधारात्मक वैधीकरण के निर्माण का कार्य किया। लेकिन अन्य समाजों से भिन्न भारतीय समाज में इस वैधीकरण ने धार्मिक कर्मकाण्डीय रूप लिया, जिसके कारण वर्ग और वर्ण में मूल के बिन्दु पर जो अतिच्छादन था, वह टूट कर एक संगति (correspondence) के सम्बन्ध में तब्दील हो गया। अब वर्ण और वर्ग के बीच पूर्ण अतिच्छादन नहीं था, लेकिन जब भी उत्पादन सम्बन्धों और वर्ग सम्बन्धों में कोई गुणात्मक परिवर्तन आता था, तो वर्ण-जाति व्यवस्था के कर्मकाण्डीय व धार्मिक ढांचे में भी विखण्डन, संलयन, सहयोजन व समायोजन की प्रक्रिया शुरू हो जाती थी। भारत में औपनिवेशिक दौर तक वर्ग समूहों और जाति समूहों में, विशेष तौर पर दलित व शूद्र आबादी के मामले में, काफी हद तक अतिच्छादन था। बताने की आवश्यकता नहीं है कि वर्ग और जाति में अतिच्छादन और वर्ग समूहों और जाति समूहों में अतिच्छादन भिन्न चीजें हैं। वर्ण-जाति तथा वर्ग में संगति का सम्बन्ध स्थापित होने के साथ तमाम वर्णों की भूमिकाओं और पेशों में परिवर्तन आये। यही कारण है कि वैश्य जो कि पहले मूलत: कृषक वर्ण थे, जनपदों के दौर के समापन होते-होते मुख्यत: वाणिज्यिक वर्ण में तब्दील होने लगे थे; शूद्र जो कि मौर्य काल के दौरान अधीनस्थ श्रमिक वर्ग व दास आबादी का अंग थे, वे अब निर्भर किसान आबादी व भूदासों में तब्दील हो गये; ऋग्वैदिक काल में शूद्रों और ब्राह्मणों के बीच वैवाहिक सम्बन्ध और उनसे पैदा संतति को बिना भेदभाव के ब्राह्मण वर्ण में शामिल किये जाने के पर्याप्त प्रमाण मौजूद हैं; कई ऋग्वैदिक ऋचाओं की रचना शूद्र माता की सन्तानों ने की थी; स्वयं 'दास', 'दस्यु' व 'असुर' शब्दों के अर्थ आरम्भिक वैदिक काल के समापन के बाद बदल गये; 'ऋग्वेद' में तो स्वयं इन्द्र को भी असुर कहा गया है। केवल आरंभिक वैदिक काल के बाद ही, जब कि वैदिक आर्यों ने पूर्ववर्ती आर्यों पर, जो कि उनसे पहले भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त पर पहुंचे थे और वहां की मूल आबादी में मिश्रित हो चुके थे, विजय को

पूर्णता तक पहुंचाया और जब वर्ग विभाजन के अस्तित्व में आने के साथ विजित वैदिक-पूर्व आर्यों को शूद्र का दर्जा दिया गया और उन्हें दास या अधीनस्थ बनाया गया; केवल तभी 'दास' शब्द का वह अर्थ पैदा हुआ जिसे हम आज जानते हैं। इस पूरे दिलचस्प इतिहास को आप उपरोक्त दिये गये लेखों व वीडियो व्याख्यानों के लिंक को फॉलो करके समझ सकते हैं, या फिर जाति व्यवस्था के इतिहास पर जो नवीनतम शोध हुआ है जैसे कि सुवीरा जायसवाल की 'कास्ट: ओरिजिन, फंक्शंस एण्ड डाइमेंशंस' तथा 'दि मेकिंग ऑफ ब्रैह्मैनिक हेजेमनी', विवेकानन्द झा की 'चाण्डाला: अनटचेबिलिटी एण्ड कास्ट इन अर्ली इण्डिया' आदि जैसी पुस्तकें पढ़कर समझ सकते हैं। हम पाठकों से आग्रह करेंगे कि इन शानदार मार्क्सवादी शोधकार्यों को अवश्य पढ़ें। इससे आप दो बातें समझ सकते हैं, जिसे श्यामसुन्दर और उन जैसे कुछ वामपंथी नहीं समझते - (1) जाति व्यवस्था सामन्ती दौर में नहीं पैदा हुई, बल्कि उससे पहले ही पैदा हो चुकी थी और इसलिए वह सामन्ती अवशेष नहीं है; यदि वह सामन्ती अवशेष है, तो वह सामन्तवाद के दौर में क्या थी? प्राक्-सामन्ती अवशेष? तब वह पूंजीवाद के दौर में 'प्राक्-सामन्ती सामन्ती अवशेष' मानी जायेगी; आप देख सकते हैं कि ऐसी तर्क प्रणाली ने श्यामसुन्दर को कैसी मूर्खताओं के ढेर में ले जाकर गिरा दिया है; (2) दूसरी बात जो आप इन शोध कार्यों के अध्ययन से समझ सकते हैं, वह यह है कि वर्ण-जाति व्यवस्था (जैसा कि सुवीरा जायसवाल इसे कहती हैं, और ठीक ही कहती हैं) बदलते उत्पादन सम्बन्धों के अनुसार बदलती गयी है; यह कालिक (temporal) व स्थानिक (spatial) तौर पर स्थैतिक (static) नहीं रही है। इसलिए अगर आप डेक्लान क्विगली के प्रसिद्ध शोध 'दि इण्टरप्रेटेशन ऑफ कास्ट' को पढ़ें तो आप पाते हैं कि जब ब्राह्मण वर्ण गुप्त काल से, यानी सामन्ती व्यवस्था के प्रादुर्भाव के साथ, एक भूस्वामी वर्ग के तौर पर पैदा हुआ, तो वे ब्राह्मण जो कि भूस्वामी नहीं बने और पुरोहिती और भिक्षा पर आधारित रहे, वे कर्मकाण्डीय व धार्मिक पदानुक्रम में भी नीचे चले गये। क्विगली ने एक क्षेत्र में एक ऐसी ब्राह्मण जाति का उदाहरण रखा है, जो कि इन पदानुक्रम में नीचे जाते-जाते स्वयं अस्पृश्य मानी जाने लगी, यानी कि 'अस्पृश्य ब्राह्मण'! ज्ञात हो कि मूल वैदिक स्रोतों के अनुसार ब्राह्मण केवल और केवल वस्तुओं की दान-दक्षिणा ले सकता है और भूमि का अनुदान या दक्षिणा लेना उसके लिए वर्जित था। लेकिन जब सामन्ती दौर आया, विमौद्रीकरण और विनगरीकरण के साथ अर्थव्यवस्था का स्थानीयकरण और ग्राम्यकरण हुआ, तो भूमि तथा खेती की भूमिका एक नये अर्थों में केन्द्रीय बन गयी; व्यापार व वाणिज्य के पतन और विमौद्रीकरण के कारण राजाओं ने भुगतान का माध्यम भूमि अनुदानों को बनाया और इसके साथ ही ब्राह्मणों का उदय भूस्वामियों व सामन्तों के तौर पर हुआ। हम देख सकते हैं कि उत्पादन पद्धति और वर्ग संरचना में परिवर्तन के साथ वर्ण-जाति व्यवस्था में भी उसके साथ संगति रखने वाले परिवर्तन हुए; नये शास्त्र और ग्रन्थ रच दिये गये, जो कई पुराने नियमों को खारिज करते थे।

उसी प्रकार भारतीय उपमहाद्वीप के वे क्षेत्र जहां जाति व्यवस्था और ब्राह्मणवाद पहुंचे ही तब जबकि खेती अर्थव्यवस्था काफी विकसित हो चुकी थी और कुछ किसान राज्य पैदा हो चुके थे, जैसे कि प्रायद्वीपीय भारत के दक्षिणी हिस्से, तो वहां पर ब्राह्मणों ने इन किसान राजाओं के लिए भी विचारधारात्मक वैधीकरण का निर्माण किया। चूंकि उत्तर भारत में उस समय कृषि मूलत: शूद्र जाति का पेशा बन चुकी थी, इसलिए इन किसान वर्ग से उठे राजाओं को शूद्र का ही दर्जा दिया, लेकिन शूद्रों में एक विभेद स्थापित करके। यहां उन्होंने नये ग्रन्थों की रचना कर *सत शूद्र* और *असत शूद्र* का विभेद पैदा किया और सत शूद्र को लगभग वही दर्जा दिया जो कि क्षत्रिय को दिया जाता है; यानी उन्हें ब्राह्मणों का संरक्षक बताया गया; कई दक्षिण भारतीय राज्यों में तो आगे सत शूद्र को ब्राह्मणों से भी ऊपर का दर्जा मिला, जैसे कि वेल्लाल जाति को। इस पूरे इतिहास को जानने के लिए भी आप उपरोक्त पुस्तकों का अध्ययन कर सकते हैं या उपरोक्त दिये गये लिंक पर जाकर विस्तृत व्याख्यानों को सुन सकते हैं। नतीजतन हुआ यह कि दक्षिण भारत के इन राज्यों में बिल्कुल अलग किस्म की वर्ण-जाति व्यवस्था अस्तित्व में आयी जिसमें कि दो

मध्यवर्ती वर्ण आरंभिक तौर पर थे ही नहीं, यानी क्षत्रिय और वैश्य। कारण यह था कि वैदिक सभ्यता जब यहां पहुंची तो यहां की उत्पादन पद्धति पहले ही एक उन्नत खेतिहर मंजिल में पहुंच चुकी थी। लगभग कुछ ऐसा ही उत्तर-पूर्व भारत के कुछ हिस्सों में भी अलग रूप में हुआ था। यानी कि कालिक तौर पर (temporally) और स्थानिक तौर पर (spatially) जाति व्यवस्था में बेहद बुनियादी बदलाव आये और इन पर काफी शोध हो चुका है। रामशरण शर्मा के 'वर्ण एण्ड स्टेट फॉर्मेशन इन मिड-गैंजेटिक प्लेंस', 'शूद्राज़ इन एंशट इण्डिया' से लेकर सुवीरा जायसवाल की 'कास्ट' व 'दि मेकिंग ऑफ ब्रैह्मैनिक हेजेमनी' तक, उत्कृष्ट शोध कार्यों की कोई कमी नहीं है, जिनमें आप इस पूरे इतिहास, वर्ण-जाति व्यवस्था के कालिक व स्थानिक परिवर्तनों को देख सकते हैं। इसलिए जाति व्यवस्था में 1000 ईसवी पूर्व से लेकर अब तक के लगभग 3000 साल के इतिहास में बहुत से परिवर्तन आये हैं; प्रश्न यह है कि प्राक्-सामन्ती दौर (जिसमें आरंभिक वर्ग समाज से लेकर मौर्य काल की दासत्व की प्रथा तक शामिल है) से होते हुए सामन्ती दौर तक वर्ण-जाति व्यवस्था में जो परिवर्तन आये उसका कारण क्या था? जैसा कि उपरोक्त इतिहासकारों ने दिखलाया है, इन परिवर्तनों का कारण था उत्पादन सम्बन्धों और वर्ग सम्बन्धों में आये परिवर्तन। जाति और वर्ग में उत्तर-वैदिक काल से ही एक संगति का सम्बन्ध रहा है और बदलते वर्ग सम्बन्धों और उत्पादन सम्बन्धों के अनुसार जाति व्यवस्था में भी बेहद महत्वपूर्ण परिवर्तन होते रहे हैं।

इसलिए यह सोचना कि जाति व्यवस्था सामन्ती चीज़ है, यह सामन्तवादी उत्पादन सम्बन्ध है, यह सामन्तवाद के दौर के बाद सामन्ती अवशेष से ज्यादा कुछ नहीं है, दिखलाता है कि श्यामसुन्दर ने जाति व्यवस्था के उद्भव और विकास के समूचे इतिहास का कोई अध्ययन नहीं किया है। कोई मार्क्सवादी होने का दावा करने वाला मंच (जन संघर्ष मंच) जाति प्रश्न पर एक सेमिनार करता है, उसका नेतृत्व जाति प्रश्न पर एक पेपर तक लिख मारता है, लेकिन उसने जाति व्यवस्था के इतिहास का ही अध्ययन नहीं किया! तो इसे क्या कहा जाय? यह एक बचकानी और गैर-जिम्मेदाराना हरकत है और ऐसे लोग आन्दोलन में अपनी मूर्खता की संक्रामक बीमारी फैलाने के अलावा कुछ नहीं कर सकते हैं।

अब देखते हैं कि श्यामसुन्दर ने अपनी मूढ़ता की छूत फैलाने के उपक्रम में कैसी अज्ञानतापूर्ण बातें लिखी हैं; हम क्रमवार उन बातों का खण्डन पेश करते चलेंगे। महोदय लिखते हैं:

"यह तो सही है कि भारतीय पूंजीवादी समाज की वैचारिक-राजनीतिक-सामाजिक अधिरचना में जातियों की प्रभावी उपस्थिति बनी हुई है, पर यह कहना ग़लत है कि जाति सामन्ती अवशेष मात्र नहीं है। क्योंकि पूंजीवादी व्यवस्था में जातिवादी, सामन्तवादी, अथवा प्राक्-पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्ध महज़ अवशेषों के रूप में ही मौजूद रह सकते हैं, अन्यथा नहीं। और *इस प्रकार के अवशेषों के कारण कोई भी पूंजीवादी व्यवस्था पूंजीवादी जाति-व्यवस्था, पूंजीवादी-सामन्ती व्यवस्था नहीं के नाम से नहीं पुकारी जा सकती।*" (ज़ोर हमारा)

जैसा कि हम देख सकते हैं, श्यामसुन्दर के लिए जाति व्यवस्था एक सामन्ती अवशेष मात्र है और उनका कहना है कि ऐसे अवशेष की मौजूदगी की वजह से उसे पूंजीवादी जाति व्यवस्था नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसका अर्थ होगा 'पूंजीवादी सामन्ती व्यवस्था' जैसी चीज़ की बात करना। *हम ऊपर दिखला चुके हैं कि जाति व्यवस्था महज़ सामन्ती अवशेष नहीं मानी जा सकती। अगर कोई ऐसा मानता है तो उसे यह भी बताना पड़ेगा कि सामन्ती काल में क्या जाति व्यवस्था प्राक्-सामन्ती व्यवस्था के उत्पादन सम्बन्ध का अवशेष थी? अगर हां, तो फिर जिस प्रकार 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' की बात नहीं की जा सकती, उसी प्रकार 'सामन्ती जाति व्यवस्था' की बात नहीं की जा सकती, क्योंकि श्यामसुन्दर के तर्क के अनुसार प्राक्-सामन्ती अवशेष की मौजूदगी के आधार पर जाति व्यवस्था को*

सामन्तवाद के दौर में सामन्ती जाति व्यवस्था नहीं कहा जा सकता। और अगर उसे सामन्ती जाति व्यवस्था नहीं कहा जा सकता तो पूंजीवाद के दौर में जाति व्यवस्था की मौजूदगी को सामन्ती अवशेष भी नहीं कहा जा सकता। जैसा कि आप देख सकते हैं, इतिहास के बारे में पूर्ण अज्ञान आपको कैसे शर्मनाक विरोधाभासों में ले जाकर गिरा देता है। और श्यामसुन्दर से पुरानी बहसों के अनुभव के आधार पर हम कह सकते हैं कि बार-बार मूर्खताओं और शर्मनाक विरोधाभासों के गड्ढे में गिरते-गिरते उन्हें इस गड्ढे से ही कुछ लगाव हो गया है, इसलिए अक्सर वे वहीं पड़े मिलते हैं! आइये अब आगे श्यामसुन्दर की दिव्य चक्षु खोल देने वाली ज्ञान वर्षा पर कुछ निगाह डालते हैं। आगे श्यामसुन्दर लिखते हैं:

"एंगेल्स ने S. Schmidt को मार्च 12, 1895 को लिखे अपने पत्र में लिखा है कि कोई भी समाज व्यवस्था शुद्ध नहीं होती। ना तो सामन्ती व्यवस्था शुद्ध सामन्ती व्यवस्था होती है और न ही कोई पूंजीवादी व्यवस्था शुद्ध पूंजीवादी। अतीत की व्यवस्थाओं के अवशेषों के बावजूद पूंजीवादी व्यवस्था पूंजीवादी ही होती है। *अत: जाति व्यवस्था के अवशेषों के बचे होने के आधार पर यदि कोई भारतीय पूंजीवादी व्यवस्था को 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' कहे तो यह सही नहीं होता। भारतीय पूंजीवादी व्यवस्था को 'पूंजीवादी जाति-व्यवस्था' कहने का अर्थ होगा कि इस व्यवस्था में सामाजिक श्रम-विभाजन की प्रक्रिया मूल्य के पूंजीवादी नियम और मुनाफों के लिए भिन्न-भिन्न पूंजियों की प्रतियोगिता से निर्धारित नहीं हो रही बल्कि अन्तत: जातियों के आधार पर, यानी, वंशानुगत आधार पर घटित हो रही है और इस प्रकार के जाति-आधारित श्रम विभाजन को देश के पूंजीवादी संविधान, कायदे-कानून और राज्य का संरक्षण प्राप्त है।*" (ज़ोर हमारा)

एक बार हमारे सामने फिर एक ऐसा कथन है जिसमें बहुस्तरीय और बहुस्वरीय कूपमण्डूकताएं पेश की गयी हैं। पहली बात तो यह है कि 12 मार्च, 1895 का एंगेल्स का पत्र किसी S. Schmidt को नहीं, बल्कि कॉनरैड श्मिट को लिखा गया था। इस पत्र में एंगेल्स महज़ इतना कह रहे हैं कि समाज विज्ञान में अवधारणाओं और उन यथार्थों के बीच, जिनकी कि वे अवधारणाएं हैं, हमेशा एक अन्तर होता है और वे कभी भी पूर्ण रूप से एक दूसरे को अतिच्छादित नहीं करती हैं। इसके लिए एंगेल्स कई उदाहरण देते हैं जैसे कि मार्क्स का यह सिद्धान्त कि कुल मुनाफा हमेशा कुल अतिरिक्त मूल्य के बराबर होता है, केवल एक *एप्रॉक्सिमेशन* में सिद्ध किया जा सकता है; ठीक उसी प्रकार इंग्लैण्ड का उदाहरण देते हुए एंगेल्स कहते हैं कि सबसे उन्नत पूंजीवादी समाज के बारे में भी यह नहीं कहा जा सकता कि वहां पर समाज पूंजीपति, मज़दूर और भूस्वामी के तीन बुनियादी ध्रुवीय वर्गों में विभाजित हो गया है; कोई भी समाज चाहे वह पूंजीवादी हो या सामन्ती ऐसी अवधारणात्मक पूर्णता में अस्तित्वमान नहीं होता। वास्तविक जीवन में हमें अवधारणाएं चलती-फिरती नहीं मिलती बल्कि ठोस सामाजिक यथार्थ मिलते हैं, जो कि इन अवधारणाओं का *एप्रॉक्सिमेशन* ही हो सकते हैं, क्योंकि कोई भी अवधारणा एक सामाजिक यथार्थ की सारतत्व की अभिव्यक्ति होती है, यानी वह एक मूर्त सामाजिक पूर्णता को उसकी शुद्धता या साररूप में अभिव्यक्त करती है और इस रूप में वह किसी भी वास्तविक सामाजिक पूर्णता (real social totality) को समझने का उपकरण होती है। ठीक उसी प्रकार उत्पादन प्रणाली (mode of production) भी एक अमूर्त अवधारणा है जो कि किसी सामाजिक पूर्णता के सारतत्व को प्रदर्शित करती है; वास्तव में जो सामाजिक यथार्थ मौजूद होता है, उसे तमाम मार्क्सवादियों ने सामाजिक संरचना (social formation) का नाम दिया है। सामाजिक संरचना का अर्थ होता है कई उत्पादन पद्धतियों का तन्तुबद्धीकरण (articulation of modes of production) जिसमें एक उत्पादन पद्धति प्रभुत्वशाली होती है; जो उत्पादन पद्धति प्रभुत्वशाली होती है, उससे उस सामाजिक संरचना का चरित्र तय होता है। मिसाल के तौर पर, उत्पादन पद्धतियों के तन्तुबद्धीकरण में यदि पूंजीवादी उत्पादन पद्धति प्रभुत्वशाली है, तो वह पूंजीवादी

सामाजिक संरचना कही जायेगी। लेकिन श्यामसुन्दर यह भी दावा करते हैं कि पूंजीवादी समाज के आर्थिक आधार, यानी उत्पादन सम्बन्धों के कुल योग में केवल पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के कुल योग को गिना जायेगा, न कि प्राक्-पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के अवशेषों को। गलत! यहां श्यामसुन्दर उत्पादन पद्धति और सामाजिक संरचना के बीच के अन्तर को समझने में अपनी पूर्ण असमर्थता को प्रदर्शित करते हैं। वास्तव में, पूंजीवादी समाज के आर्थिक आधार में शुद्ध रूप से पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के अलावा प्राक्-पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्ध भी मौजूद होते हैं, लेकिन वे पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों द्वारा सहयोजित, रूपान्तरित और मातहतीकृत (subsume) किये जाते हैं, और इस रूप में उनका उत्सादन (sublation) ही होता है। इस पहलू पर हम बाद में आएंगे, लेकिन पहले मार्क्स के इस उद्धरण पर गौर करें:

"समाज के हर रूप में यह निर्धारक उत्पादन और इसके द्वारा पैदा उत्पादन सम्बन्ध होते हैं *जो अन्य सभी उत्पादन रूपों के और उनके द्वारा जनित उत्पादन सम्बन्धों के स्थान को निर्धारित करते हैं*।" (मार्क्स, 'प्रस्तावना', *राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना में योगदान,* ज़ोर हमारा)

जैसा कि इस उद्धरण से स्पष्ट है, आर्थिक आधार कोई एक ही प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों की शुद्ध संरचना नहीं होती, बल्कि उसमें कई प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों का तन्तुबद्धीकरण होता है, जिसमें कि निर्धारक या प्रभुत्वशाली उत्पादन सम्बन्ध अन्य प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों को अपने अनुसार सहयोजित करते हैं और उनके स्थान और महत्व को निर्धारित करते हैं। श्यामसुन्दर की आर्थिक आधार की अवधारणा बचकानी और कठमुल्लावादी है, जिसके अनुसार किसी भी समाज के आर्थिक आधार में केवल एक ही प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों का योग होता है। मार्क्स की यह अवधारणा कतई नहीं थी। निश्चित तौर पर, किसी भी आर्थिक आधार में किसी एक प्रकार के उत्पादन सम्बन्ध ही *निर्धारक और प्रभुत्वशील भूमिका* निभाते हैं। लेकिन अन्य उत्पादन सम्बन्ध भी उस आर्थिक आधार में मौजूद होते हैं, जो कि प्रभुत्वशील उत्पादन सम्बन्धों द्वारा मातहतीकृत, संसाधित और सहयोजित किये जाते हैं। यदि आप 'पूंजी' के पहले खण्ड का अध्ययन करें तो मार्क्स ने इंग्लैण्ड के पॉटरी व बेकरी उद्योग का उदाहरण देते हुए बताया है कि ये ऐसे सेक्टर हैं जहां प्राक्-पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्ध पूंजीवादी सम्बन्धों द्वारा (अति)निर्धारित होते हैं।

अब इस उपरोक्त उद्धरण में मौजूद श्यामसुन्दर की दूसरी बेवकूफी पर आते हैं। यहां पर श्यामसुन्दर ने 'जाति व्यवस्था' को एक उत्पादन पद्धति के समानार्थी के तौर पर इस्तेमाल किया है, जो कि उनके लिए सामन्ती उत्पादन व्यवस्था का पर्याय है। एक बार फिर कहना होगा कि श्यामसुन्दर को जाति व्यवस्था के इतिहास के बारे में थोड़ा अध्ययन करने की आवश्यकता है। श्यामसुन्दर ने हमारे पेपरों को समझा ही नहीं है क्योंकि उन्हें लगता है कि हम पूंजीवादी उत्पादन पद्धति को 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' कह रहे हैं। यह दिखलाता है कि श्यामसुन्दर सामान्य हिन्दी वाक्य भी नहीं समझ पाते हैं। यहां समकालीन जाति व्यवस्था के चरित्र निर्धारण को 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' कहा गया है, न कि पूंजीवादी उत्पादन पद्धति को। श्यामसुन्दर के इस निपट दिमागी दीवालियेपन पर आगे आएंगे। दूसरी बात, जाति व्यवस्था न तो अपने आप में कोई उत्पादन पद्धति है और न ही यह सामन्ती उत्पादन पद्धति का समानार्थी है। इसलिए यह कहना कि पूंजीवादी जाति व्यवस्था की बात करना वैसा ही है जैसा कि पूंजीवादी सामन्ती व्यवस्था के बारे में बात करना, परले दर्जे की नासमझी है। जाति व्यवस्था एक सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था है, जिसके ऐतिहासिक तौर पर तीन बुनियादी आयाम हैं, जो कि इतिहास के अलग-अलग दौरों में बदलती उत्पादन पद्धति के साथ अस्तित्व में आये, विकसित हुए और उनमें से कुछ आयाम बदलती उत्पादन पद्धतियों के साथ ही खत्म हुए या खत्म होने की ओर अग्रसर हुए; ये तीन आयाम हैं आनुवांशिक श्रम विभाजन, सजातीय विवाह की परम्परा और अस्पृश्यता। इनमें से दो आयाम, यानी आनुवांशिक श्रम विभाजन और सजातीय

विवाह समाज में मौजूद सम्पत्ति सम्बन्धों व श्रम विभाजन की संरचना को प्रभावित करते हैं और एक दौर में उन्हें काफी हद तक निर्धारित करते थे। पूंजीवादी उत्पादन पद्धति के उदय के साथ जाति व्यवस्था के कौन से आयाम क्षीण हुए, पूंजीवादी व्यवस्था के साथ विशिष्ट रूप में समायोजित व सहयोजित हुए और कौन से आयाम बचे रहे, इस पर हम आगे आएंगे। लेकिन अभी इतना स्पष्ट करना काफी है कि जाति व्यवस्था अपने आप में कोई उत्पादन पद्धति नहीं है और न ही वह सामन्ती उत्पादन सम्बन्ध का समानार्थी है। इसलिए एक पूंजीवादी जाति व्यवस्था की उसी रूप में बात की जा सकती है, जैसे कि पूंजीवादी अस्वतन्त्र श्रम या अन्य प्रकार के श्रम रूपों की बात की जा सकती है, जो कि अस्तित्व में तो प्राक्-पूंजीवादी दौर में आये थे, लेकिन पूंजीवाद के प्रादुर्भाव के बाद पूंजीवादी उत्पादन पद्धति ने उन्हें सहयोजित किया और अपने अनुसार समायोजित भी किया। आइये, इसके एक ठोस उदाहरण की बात करते हैं, जिसकी मार्क्स ने चर्चा की है: दास प्रथा (slavery)। मार्क्स ने 'पूंजी' के पहले खण्ड में स्पष्ट तौर पर बताया है कि प्राक्-पूंजीवादी रोमन व ग्रीक दास प्रथा व संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिण में 1860 के पहले मौजूद दास प्रथा में क्या अन्तर था और किस प्रकार पूंजीवादी उत्पादन पद्धति ने दास प्रथा को अपने अनुसार सहयोजित और समायोजित किया था। निश्चित तौर पर, इस उदाहरण को जाति प्रथा के पूंजीवादी व्यवस्था द्वारा तन्तुबद्धीकरण, उत्सादन और सहयोजन पर हूबहू लागू नहीं किया जा सकता क्योंकि हर तुलना अधूरी होती है और इतिहास अपने आपको हूबहू दुहराता नहीं है। *लेकिन अभी सिर्फ इतना समझने के लिए कि श्रम विभाजन व स्वामित्व के रूपों को प्रभावित करने वाली किसी सामाजिक-आर्थिक प्रथा या व्यवस्था को अलग-अलग उत्पादन पद्धतियां सहयोजित कर सकती हैं या नहीं और उस आधार पर, मिसाल के तौर पर, पूंजीवादी दासत्व या पूंजीवादी अस्वतन्त्र श्रम प्रथा की बात की जा सकती है या नहीं, हम इस उदाहरण को पेश कर रहे हैं, ताकि पाठक इस बाबत साफ़-नज़र हो जाये और श्यामसुन्दर की कूपमण्डूकता और अज्ञानता की ब्रॉडकास्टिंग की पहुंच से बाहर हो जाये।* आइये देखें कि मार्क्स ने पूंजीवाद के मातहत दास प्रथा के सहयोजन और समायोजन के बारे में क्या लिखा है:

"यद्यपि यह स्पष्ट है कि किसी भी समाज की किसी भी आर्थिक संरचना में जहां विनिमय मूल्य की बजाय उपयोग मूल्य प्रभावी होता है, वहां अतिरिक्त श्रम आवश्यकताओं के कमोबेश सीमित समुच्चय के दायरे में सीमित होगा, और उत्पादन के चरित्र से ही अतिरिक्त श्रम की कोई असीमित भूख नहीं पैदा होगी... *इसलिए अमेरिकी यूनियन के दक्षिणी प्रान्तों में नीग्रो श्रम का तब तक एक माध्यमिक रूप सेपितृसत्तात्मक चरित्र बना हुआ था जब कि उत्पादन तात्कालिक स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निर्देशित था। लेकिन जैसे-जैसे कपास का निर्यात उन राज्यों का प्रमुख हित बनता गया, वैसे-वैसे नीग्रो लोगों से अतिरेकपूर्ण काम लेना, और कभी कभी श्रम के सात वर्षों में ही उसके जीवन को पूर्णत: खपा देना एक अच्छी तरह परिकलित और योजनाबद्ध व्यवस्था में एक कारक बन गया। अब उससे उपयोगी उत्पादों की एक निश्चित मात्रा प्राप्त करना कोई प्रश्न नहीं था, बल्कि स्वयं अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन करना एक प्रश्न बन गया था। यही बात, मिसाल के तौर पर, दैन्यूबियन राज्यों के कॉर्वी व्यवस्था पर भी लागू होती है।*" (कार्ल मार्क्स, 1990, 'कैपिटल', खण्ड-1, पेंगुइन, लंदन)

मार्क्स यहां बेहद स्पष्टता के साथ बता रहे हैं कि प्राक्-पूंजीवादी व्यवस्था के दौर में दास प्रथा अमेरिका में अधिक से अधिक उपयोग मूल्यों के उत्पादन के लिए दिशा-निर्देशित थी और वहां श्रम व उसके उत्पादों से जुड़े सारे पहलू किसी व्यवस्थित गणना का विषय नहीं बने थे; लेकिन जैसे ही पूंजीवादी व्यवस्था ने जड़ जमाई वैसे ही दास प्रथा उसके द्वारा सहयोजित हुई, समायोजित हुई और अब उसका मकसद अधिक से अधिक विनिमय मूल्य पैदा करना था और वह एक व्यवस्थित और सख्त पूंजीवादी एकाउंटिग तन्त्र के मातहत आ गया था। इसी के आगे मार्क्स ने बताया था कि दास के जीवन प्रत्याशा तक को पूंजीपति प्लाण्टरों ने आने-पाई की गणना के समान पूर्वानुमानित कर लिया था और उनका मकसद होता था दासों के इसी छोटे से जीवन में उनपर होने वाले खर्च से कहीं ज्यादा विनिमय मूल्य

निकलवाया जा सके। यह एक *पूंजीवादी दास प्रथा* थी न कि रोमन दास उत्पादन पद्धति या यूनानी दास उत्पादन पद्धति के दौर की दास प्रथा। यह मार्क्स के बौद्धिक जीवन के उत्तरार्द्ध का विचार नहीं था, बल्कि 'दर्शन की दरिद्रता' में 1847 में मार्क्स ने अमेरिका में पूंजीवाद द्वारा दास प्रथा के अपने हितों के अनुसार समायोजन और सहयोजन की बात की थी और यह दास प्रथा अमेरिका के पूंजीवाद के मात्र अधिरचना में मौजूद प्राक्-पूंजीवादी अवशेष नहीं था। देखें मार्क्स ने क्या लिखा है:

"*प्रत्यक्ष दास प्रथा बुर्जुआ उद्योग की वैसे ही धुरी है जैसे कि मशीनरी, क्रेडिट, आदि। बिना दास प्रथा के आपके पास कपास नहीं होगा; बिना कपास के आपके पास कोई आधुनिक उद्योग नहीं रहेगा...दास प्रथा सर्वाधिक महत्व की आर्थिक श्रेणी है। बिना दास प्रथा के उत्तरी अमेरिका, सभी देशों में सबसे प्रगतिशील देश, एक पितृसत्तात्मक देश में तब्दील हो जायेगा।* विश्व के नक्शे से उत्तरी अमेरिका को हटा दीजिया, और आपको अराजकता मिलेगी -- आधुनिक वाणिज्य और सभ्यता का पूर्ण क्षरण...इस प्रकार दास प्रथा, क्योंकि यह एक आर्थिक श्रेणी है, हमेशा से लोगों की संस्थाओं में मौजूद रही है। आधुनिक राष्ट्रों ने अपने देशों में दास प्रथा को केवल ढंकने में सफलता हासिल की है, लेकिन नयी दुनिया में उन्होंने इसे बिना किसी नकाब के लागू कर दिया है।" (कार्ल मार्क्स, *दि पावर्टी ऑफ फिलॉसफी,* इण्टरनेशनल पब्लिशर्स, न्यूयॉर्क, पृ. 94-5, ज़ोर हमारा)

मार्क्स ने *गुंडरिस्से* और *थियरीज़ ऑफ सरप्लस वैल्यू* में भी उत्तरी अमेरिकी पूंजीवाद में दास प्रथा के समेकन, सहयोजन और समायोजन पर चर्चा की है और बताया है कि अमेरिकी प्लाण्टेशन का मालिक जो कि दास श्रम से उत्पादन करता है, वह पूंजीपति है, न कि दास स्वामी। यहां बस यह हो रहा है कि भूस्वामी और पूंजीपति, दोनों की ही भूमिका वह निभा रहा है। यह ज़रूर है कि मुक्त उजरती श्रम की अनुपस्थिति के कारण पूंजीवादी उत्पादन पद्धति एक विशिष्ट रूप में मौजूद है, मगर यह भूला नहीं जाना चाहिए कि दासों के प्रजनन और उनसे अतिरिक्त श्रम निकलवाने की पूरी प्रक्रिया अब पूंजीवादी तौर-तरीकों से संचालित की जा रही है। मार्क्स के लिए यह स्पष्ट है कि यह दास प्रथा क्लासिकीय प्राचीन युग की रोमन या यूनानी दास प्रथा नहीं है, बल्कि पूंजीवादी उत्पादन पद्धति ने इसे अपनी आवश्यकताओं के अनुसार बदला है, सहयोजित और समायोजित किया है; दूसरे शब्दों में कहें, तो उत्सादित किया है। मार्क्स के ऐसे उद्धरणों को यहां भारी मात्रा में पेश किया जा सकता है, लेकिन उसकी कोई आवश्यकता नहीं है और उससे हमारा जवाब बिना वजह लम्बा होगा। जिस बिन्दु को हम स्पष्ट करना चाहते हैं, वह उपरोक्त चर्चा से स्पष्ट हो चुका है: *जाति व्यवस्था अपने आपमें कोई उत्पादन पद्धति नहीं है और न ही वह सामन्ती उत्पादन पद्धति की समानार्थी है; वह सामन्ती उत्पादन पद्धति के अस्तित्व में आने से पहले ही अस्तित्व में आ चुकी थी; इसलिए पूंजीवादी जाति व्यवस्था की बात वैसे ही की जा सकती है जैसे कि पूंजीवादी आधुनिक दास प्रथा की बात की जा सकती है; पूंजीवादी जाति व्यवस्था की बात करने को 'पूंजीवादी सामन्ती व्यवस्था' के समुतल्य समझना श्यामसुन्दर के बौद्धिक दिवालियेपन को ही दिखलाता है।*

अब उपरोक्त उद्धरण में मौजूद श्यामसुन्दर की तीसरी मूर्खता पर आते हैं। श्यामसुन्दर की जाति व्यवस्था के बारे में यह समझदारी है कि जाति व्यवस्था का अर्थ केवल आनुवांशिक श्रम विभाजन है और यदि आज पूंजीवादी व्यवस्था के मातहत सामाजिक श्रम विभाजन जाति से नहीं तय हो रहा है तो फिर यह मानना पड़ेगा कि जाति केवल एक अधिरचनात्मक अवशेष है। श्यामसुन्दर अन्यत्र यह भी लिखते हैं कि यदि सफाई कर्मचारियों के पेशे में जाति व्यवस्था अभी भी आंशिक रूप से श्रम विभाजन को निर्धारित कर रही है तो इसका कारण केवल बेरोज़गारी है। अब इन दोनों ही अज्ञानतापूर्ण बातों की थोड़ी पड़ताल करते हैं। पहली बात तो यह है कि जाति व्यवस्था का अर्थ केवल आनुवांशिक श्रम विभाजन ही नहीं है, बल्कि सजातीय विवाह की व्यवस्था, अस्पृश्यता और साथ ही संस्तरीबद्ध असमानता की व्यवस्था भी है। जाति पर आधारित आनुवांशिक श्रम विभाजन पूंजीवादी व्यवस्था के विकास के

साथ मूलत: और मुख्यत: टूट चुका है और यह स्वाभाविक ही है। पूंजीवादी उत्पादन पद्धति के साथ जाति व्यवस्था का जो आयाम मेल नहीं खायेगा या उसके साथ अन्तरविरोध में होगा, उसका मूलत: और मुख्यत: समाप्त हो जाना लाजिमी है। आंशिक तौर पर यदि सफाई कर्मचारियों के पेशे में आनुवांशिक श्रम विभाजन अभी भी बना हुआ है, तो यह सिर्फ बेरोज़गारी के कारण नहीं है, बल्कि बेरोज़गारी इसमें एक कारक है। अन्य जातियों के मज़दूरों में इस पेशे को अपनाने के प्रति अनिच्छा है और कई स्थानों पर अस्पृश्य जातियों के श्रमिकों को यह काम करने के लिए बाध्य भी किया जाता है। इसके अलावा, यदि पूंजीवादी व्यवस्था की बेरोज़गारी किसी पेशे या सेक्टर में जातिगत श्रम विभाजन को बनाये रखती है, तो इसे भी जाति व्यवस्था के एक आयाम का पूंजीवादी व्यवस्था द्वारा सहयोजन और समायोजन ही कहेंगे। लेकिन इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि आनुवांशिक श्रम विभाजन जाति व्यवस्था के कई आयामों में से एक आयाम है। हमने अपने पूर्ववर्ती शोध-पत्रों में यह स्पष्ट तौर पर लिखा है जाति व्यवस्था के दो आयाम, यानी अस्पृश्यता और आनुवांशिक श्रम विभाजन, पूंजीवादी विकास के साथ कमज़ोर होंगे; लेकिन सजातीय विवाह की प्रथा बरकरार रहेगी, क्योंकि पूंजीवादी उत्पादन पद्धति से इसका कोई बुनियादी अन्तरविरोध नहीं है; उल्टे यह सम्पत्ति सम्बन्धों की निरन्तरता को बरकरार रखने का एक अहम उपकरण है, जिससे उच्च वर्गीय उच्च जाति के परिवारों में सम्पत्ति की निरन्तरता बनी रहती है। परिवार वर्ग समाज की एक आर्थिक इकाई भी है। *मार्क्स ने बार-बार स्पष्ट किया था कि पितृसत्तात्मक परिवार एक आर्थिक इकाई है। इसके कई कारण थे। एक कारण यह था कि यह श्रम शक्ति के पुनरुत्पादन की समस्त लागतों को पूंजीपति वर्ग से हटाकर मज़दूर परिवार पर डाल देता है; दूसरा कारण यह है कि यह निजी सम्पत्ति की निरन्तरता को बरकरार रखता है।* इस रूप में परिवार की संस्था एक आर्थिक श्रेणी भी है और केवल स्त्री के आर्थिकेतर उत्पीड़न का स्थल नहीं है। बिना पितृसत्तात्मक परिवार के पूंजी सम्बन्ध (capital-relation) और उजरत के सम्बन्ध (wage-relation) को पुनरुत्पादित नहीं किया जा सकता है। अब इस मार्क्सवादी दृष्टिकोण से यदि सजातीय विवाह की परम्परा की जांच करें तो वह पूंजीवाद की सेवा करती है और केवल विचारधारात्मक या राजनीतिक अर्थों में ही नहीं, बल्कि आर्थिक अर्थों में भी। *इसलिए जाति व्यवस्था का यह आयाम स्पष्ट तौर पर पूंजीवादी समाज के आर्थिक आधार, यानी उत्पादन सम्बन्धों के कुल योग, का एक अंग है।*

उत्पादन सम्बन्धों की श्यामसुन्दर की अवधारणा अज्ञानतापूर्ण है। उत्पादन सम्बन्ध केवल सम्पत्ति सम्बन्ध या श्रम विभाजन ही नहीं है। *वितरण के सम्बन्ध इसका तीसरा और अहम पहलू है। ये तीनों ही आयाम अन्तर्संबंधित हैं और एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।* यदि हम वितरण के सम्बन्धों की बात करें तो जाति व्यवस्था वितरण के तमाम विनियामकों में से एक विनियामक का कार्य करती है। अगर कुछ आंकड़ों पर निगाह दौड़ाएं तो यह बात स्पष्ट हो जाती है। दलित घरों की औसत आय भारत के घरों की आम औसत आय से कम है। भारत के 25 प्रतिशत गांवों में दलितों की औसत मज़दूरी आम औसत मज़दूरी से कम है। इतने ही प्रतिशत गांवों में उन्हें मज़दूरी देर से मिलती थी और 37 प्रतिशत गांवों में मज़दूरी दूर से दी जाती थी, ताकि शारीरिक सम्पर्क से बचा जा सके। 35 प्रतिशत गांवों में दलित निम्न उत्पादकों को अपने उत्पादों को स्थानीय बाज़ारों में नहीं बेचने दिया जाता है और उन्हें कहीं अन्यत्र जाकर मण्डी में अपने उत्पाद बेचने पड़ते हैं, जिससे कि समय लागत और पूंजी लागत बढ़ जाती है और उनकी औसत आय में कमी आती है। दलित परिवारों की औसत आय 22800 रुपये है, जबकि उच्च जाति के घरों की औसत आय 48000 रुपये है। यहां तक कि मुसलमान, ईसाई, सिख, जैन और शहरों में तो आदिवासी परिवारों की आय भी दलित परिवारों से ज्यादा है। *हमने दलित परिवारों व गैर-दलित परिवारों का आंकड़ा इसलिए लिया ताकि आप समझ सकें कि दलितोंकी औसत आय कम होना स्त्रियों के कम औसत वेतन से अलग चीज़ है और यह महज़ सामाजिक उत्पीड़न का मसला नहीं है।*यहां हम व्यक्तिगत आय का मूल्यांकन नहीं कर रहे, बल्कि पूरे परिवार के आय का मूल्यांकन कर रहे हैं। इसलिए इस असमानता को महज़ सामाजिक उत्पीड़न का मसला नहीं समझा जा

सकता है, बल्कि इसका एक स्पष्ट आर्थिक आयाम है। *इन आंकड़ों से साफ तौर पर देखा जा सकता है कि उत्पादन सम्बन्धों के तीसरे आयाम, यानी वितरण के सम्बन्धों की बात करें, तो जाति व्यवस्था को स्पष्ट तौर पर वितरण के तमाम विनियामकों में से एक विनियामक के तौर पर देखा जा सकता है।* इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि जाति के इन आर्थिक आयामों को भारत का संविधान व कानून व्यवस्था पहचानती है या नहीं। भारत का संविधान तो वर्ग की वास्तविकता को भी नहीं पहचानता है। तो क्या वर्ग का यथार्थ भारतीय सामाजिक संरचना के आर्थिक आधार का अंग नहीं है? संविधान से मान्यता लेकर अपने आर्थिक विश्लेषण व सामाजिक विश्लेषण के लिए वैधीकरण की तलाश केवल श्यामसुन्दर जैसे कठमुल्लावादी वामपंथी कर सकते हैं। मार्क्सवाद समाज के वास्तविक आर्थिक और सामाजिक सम्बन्धों को देखता है और समाज के राजनीतिक व विचारधारात्मक अधिरचना के साथ उसकी जटिल संगति और अन्तरविरोध दोनों की ही पड़ताल करता है।

उपरोक्त उद्धरण में श्यामसुन्दर के विचित्र विचार-रत्नों के मूल्यांकन के बाद अब उनके पत्र के अगले उद्धरण पर आते हैं। वे लिखते हैं:

"इन साथियों (*यानी हमारा - लेखक*) का जो यह कहना कि जाति-व्यवस्था वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था के "आर्थिक मूलाधार (उत्पादन-सम्बन्धों के कुल योग) में सावयवी (organic) ढंग से गुंथी-बुनी है" भी सिद्धान्ततः गलत है। *ऐसा कहने का अर्थ होगा कि वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था के तमाम उत्पादन सम्बन्ध (उत्पादन-सम्बन्धों के कुल योग) अन्ततः जातियों पर आधारित हैं। अर्थात् पूंजीपतियों और मज़दूरों के बीच के उत्पादन सम्बन्ध, मालों के मालिकों के बीच के उत्पादन सम्बन्ध और पूंजीपतियों और पूंजीपतियों के बीच के आदि सभी उत्पादन सम्बन्ध जातियों पर टिके हैं।* जोकि पूंजीवादी व्यवस्था को गूढ़ और समझ से परे बना देने के अलावा और कुछ नहीं है।" (ज़ोर हमारा)

आइंस्टीन ने ठीक ही कहा था, "मूर्खता और अन्तरिक्ष अनन्त होते हैं, अन्तरिक्ष के बारे में मैं पक्का नहीं हूं।" जब-जब आप श्यामसुन्दर का पत्र पढ़ते हैं, तो आइंस्टीन की यह उक्ति दिमाग़ में बार-बार गूंजती है। इन महोदय का मानना है कि यदि जाति व्यवस्था पूंजीवादी व्यवस्था के आर्थिक आधार के साथ गुंथी-बुनी है, तो इसका अर्थ होगा कि हर पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्ध जाति पर आधारित है। इस तर्क से कहा जा सकता है कि जब मार्क्स ने दास प्रथा के पूंजीवादी व्यवस्था द्वारा तन्तुबद्धीकरण की बात की तो वह कह रहे थे कि उत्तरी अमेरिकी के सभी उत्पादन सम्बन्ध दास प्रथा पर आधारित हैं! यहां हम फिर से देख सकते हैं कि जाति व्यवस्था को एक उत्पादन पद्धति के समानार्थी के तौर पर ट्रीट किया गया है, जिस बौद्धिक दरिद्रता की आलोचना हम पहले ही रख चुके हैं। अब चूंकि पूंजीवादी व्यवस्था द्वारा जाति प्रथा के इस प्रकार का सहयोजन, समायोजन और उत्सादन श्यामसुन्दर के दिमाग़ से परे है इसलिए उन्हें लग रहा है कि हमने पूंजीवादी व्यवस्था को बिना वजह गूढ़ और समझ के परे बना दिया है। इस पर हम श्यामसुन्दर से इतना ही कहेंगे कि दिमाग़ पर थोड़ा ज़ोर डालें तो वे इस प्रक्रिया को समझ जाएंगे, हालांकि हम इस विकल्प के बारे में भी बहुत आशावान नहीं हैं। लेकिन ज़रा-सा ज़ोर डालने से आप शायद यह भी समझ जाएंगे कि ठीक यही बात पितृसत्ता पर भी लागू होती है। पितृसत्ता भी हमेशा एक जैसी नहीं रही है। दास प्रथा के दौर की पितृसत्ता, सामन्ती दौर की पितृसत्ता और पूंजीवादी दौर की पितृसत्ता में काफी अन्तर है। बदलती उत्पादन पद्धतियों ने पितृसत्ता के कुछ आयामों को समाप्त किया, कुछ आयामों को पुनर्व्यवस्थित और रूपांतरित रूप में समेकित किया। *पहले से मौजूद किसी सामाजिक-आर्थिक परिघटना के निश्चित आयामों को जब कोई नयी उत्पादन पद्धति समेकित करती है, तो वह उसे हूबहू उसी रूप में समेकित नहीं करती है, बल्कि अपनी प्रकृति के अनुसार रूपांतरित करके समेकित करती है। दूसरे शब्दों, पहले से मौजूद सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के वे आयाम महज़ "अवशेष" के रूप में नयी व्यवस्था में पुनःप्रकट नहीं होते, बल्कि उनमें नयी उत्पादन पद्धति के अनुसार कई परिवर्तन*

आ चुके होते हैं। श्यामसुन्दर को यह लगता है कि पुरानी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्थाओं के जो तत्व नयी उत्पादन पद्धति के प्रादुर्भाव के बाद मौजूद रहते हैं (छूट गये तत्वों के रूप में नहीं, बल्कि नयी व्यवस्था में समेकित तत्वों के रूप में) वे भी महज़ पिछले दौर के अवशेष होते हैं। उत्सादन के विषय में भी श्यामसुन्दर की यही समझदारी है। यही कारण है कि वह हेगेलीय उत्सादन की अवधारणा को समझ ही नहीं पाए हैं और न ही यह समझ पाए हैं कि मार्क्स ने उत्सादन की इस अवधारणा को क्रांतिकारी रूप में किस प्रकार विकसित किया। अब चूंकि श्यामसुन्दर दिमाग़ पर ज़ोर डालकर भी इसे नहीं समझ पाए हैं, तो वह हम पर नाराज़-से हो गये हैं, कि हम बिना वजह हेगेल की इसी अवधारणा को जाति प्रथा के पूंजीवादी व्यवस्था के साथ तन्तुबद्धीकरण को समझाने के लिए घसीट लाए हैं। इसलिए आइये पहले हेगेल के उत्सादन व निषेध का निषेध की अवधारणा व मार्क्स द्वारा इन अवधारणाओं को क्रांतिकारी तौर पर विकसित किये जाने को लेकर एक सन्तुलित समझदारी बना लें, ताकि मूर्खता के सीमान्तों के श्यामसुन्दरीय संधान की "बारीकियों" को समझ सकें।

IV.उत्सादन व निषेध का निषेध के बारे में श्यामसुन्दर के "खुलासे"

(1) उत्सादन की अवधारणा के बारे में श्यामसुन्दर की मूर्खतापूर्ण दुविधा: ताली पीटें या छाती पीटें?

श्यामसुन्दर के उत्सादन की अवधारणा के बारे में विचारों को जानने के लिए हम उन्हीं को उद्धृत करेंगे और दिखलाएंगे कि वे न तो इस अवधारणा को समझते हैं और न ही उसके नतीजे के प्रति एक समाज वैज्ञानिक के दृष्टिकोण को। वह लिखते हैं:

"इन साथियों (यानी कि हमें - लेखक) यह मालूम होना चाहिए था कि जब उत्सादन की प्रक्रिया से कोई चीज़ निम्न परिघटना से उच्चतर स्तर की संश्लिष्ट परिघटना में पहुंचती है *तो यह विकास की प्रक्रिया में एक स्वागत योग्य मंजिल होती है। उस पर न तो विलाप किया जाता है और न ही उसे बुरा कहकर कोसा जाता है। 'हेगेल की भाषा' में यदि अतीत की जातिवादी व्यवस्था उत्सादित रूप में वर्तमान भारतीय पूंजीवादी व्यवस्था के आधार में मौजूद है तो फिर इन्हें यह भी कहना चाहिए था कि यह भारत के सन्दर्भ में समाज विकास की प्रक्रिया में एक स्वागत योग्य कदम है। पर ये ऐसा न कहकर उसे कोस रहे हैं,* जिससे यही सिद्ध होता है कि उत्सादन की हेगेलीय अवधारणा के अर्थों को ये लोग कतई नहीं समझते हैं और अतीत की जातिवादी व्यवस्था के अवशेषों को हेगेल की आड़ लेकर वर्तमान भारतीय पूंजीवादी व्यवस्था का चरित्र चित्रण "जातिवादी पितृसत्तात्मक पूंजीवादी व्यवस्था" के रूप में कर रहे हैं।" (ज़ोर हमारा)

आगे श्यामसुन्दर उत्सादन की हेगेलीय अवधारणा पर अपने हास्यास्पद विचार रखते हैं, लेकिन पहले कूपमण्डूकता के उपरोक्त उदाहरण पर बात कर लें।

पहली बात तो यह है कि हमारे पेपर में जाति व्यवस्था के पूंजीवादी व्यवस्था द्वारा उत्सादन के साथ जाति व्यवस्था के उच्चतर स्तर पर और संश्लिष्ट परिघटना के तौर पर प्रकट होने पर न तो हमने कोई विलाप किया है और न ही छाती पीटी है। श्यामसुन्दर के अनुसार, जब भी उत्सादन के कारण किसी सामाजिक परिघटना के उच्चतर और संश्लिष्ट रूप प्रकट होते हैं, तो हमें उसका स्वागत करना चाहिए! यहां भी हम देख सकते हैं कि एसयूसीआई के 'सेण्टिमेण्टल' मार्क्सवाद से श्यामसुन्दर आगे नहीं बढ़ पाए हैं। कोई समाज वैज्ञानिक अन्तरविरोध के कारण और उत्सादन के तौर पर किसी भी नयी सामाजिक परिघटना के प्रकट होने पर न तो ताली पीटता है और न ही छाती

पीटता है। वह उसका एक वस्तुगत वैज्ञानिक और ऐतिहासिक मूल्यांकन करता है। कोई भी परिघटना ऐतिहासिक तौर पर प्रगतिशील हो सकती है और फिर भी अपनी तात्कालिकता में वह एक नकारात्मक परिघटना हो सकती है। समाज वैज्ञानिक इन दोनों ही पहलुओं की पहचान करता है और अपने कार्यभार तय करता है। *मिसाल के तौर पर, मार्क्स के आदिम संचय के बारे में विचार पढ़ें या फिर व्यक्तिगत निजी सम्पत्ति के विनाश और पूंजीवादी निजी सम्पत्ति के पैदा होने के बारे में मार्क्स के विचार पढ़ें तो इसका अर्थ आपको समझ में आ जायेगा। लेकिन श्यामसुन्दर उत्सादन के फलस्वरूप किसी नयी सामाजिक परिघटना पर ताली पीटने या छाती पीटने के लिए तैयार बैठे रहते हैं*आइये किसी नयी सामाजिक परिघटना के प्रकट होने पर मार्क्स के विचारों के एक नमूने के तौर पर व्यक्तिगत निजी सम्पत्ति के विनाश पर उनके विचारों को देखें:

"विकास के एक निश्चित स्तर पर उत्पादन की यह पद्धति विश्व में उन भौतिक ज़रियों को पैदा करती है जो इसके इस विनाश को जन्म देते हैं। इसके आगे समाज के गर्भ में वे शक्तियां और भावोद्वेग उमड़ते-घुमड़ते हैं जिन्हें उत्पादन की यह पद्धति अपने पांवों में बेड़ियां महसूस होती हैं। इसे नष्ट किया जाना अनिवार्य हो जाता है, और इसे नष्ट कर दिया जाता है। *इसका विनाश, उत्पादन के व्यक्तिगत और बिखरे हुए साधनों का रूपान्तरण, कईयों की छोटी सम्पत्तियों के कुछ की विशाल सम्पत्तियों में रूपान्तरण, भूमि, जीविकोपार्जन के साधनों और श्रम के उपकरणों से व्यापक आबादी का अलगाव--जनता के इस भयंकर और शोचनीय सम्पत्ति हरण--से पूंजी के इतिहास की प्रस्तावना तैयार होती है।*" (कार्ल मार्क्स, *पूंजी,* खण्ड-1)

जैसा कि आप देख सकते हैं कि मार्क्स व्यक्तिगत निजी सम्पत्ति के विनाश को व्यापक आबादी के लिए एक शोचनीय व तकलीफदेह प्रक्रिया मानते हैं, लेकिन साथ ही वह पूंजीवादी सम्पत्ति के पैदा होने और उसके ज़रिये पूंजीवाद के निषेध की ज़मीन तैयार होने को वस्तुगत तौर पर एक प्रगतिशील परिघटना मानते हैं। न तो मार्क्स इस पर छाती पीटते हैं और न ही ताली पीटते हैं। ठीक उसी प्रकार आप मार्क्स के आदिम कम्युनिज़्म से दास व्यवस्था में संक्रमण और आदिम संचय की प्रक्रिया के बारे में विचारों को भी पढ़ सकते हैं। आदिम कम्युनिज़्म से दास व्यवस्था में संक्रमण भी अन्तरविरोध के नियम और निषेध के निषेध की प्रक्रिया द्वारा ही होता है। *इस संक्रमण की बात करते हुए मार्क्स एक ओर सामुदायिक बोध और सामुदायिक जीवन और साथ ही व्यक्तित्व के विघटन को तात्कालिक तौर पर व्यापक जनसमुदायों के लिए एक दुखद प्रक्रिया के रूप में देखते हैं, तो वहीं वह ऐतिहासिक तौर पर अधिशेष उत्पादन के फलस्वरूप वर्ग समाज के अस्तित्व में आने और दास व्यवस्था के पैदा होने को एक ऐतिहासिक तौर पर प्रगतिशील कदम भी मानते हैं, क्योंकि इसके साथ ही विज्ञान, कला आदि के विकास होने की सुषुप्त सम्भावनासम्पन्नता एक वास्तविकता में तब्दील हुई। लेकिन वे दास व्यवस्था के पैदा होने पर जश्न नहीं मनाते और न ही उसके स्वागत के लिए पुष्पवर्षा करते हैं।* मार्क्स एक समाज वैज्ञानिक के तौर पर इस परिघटना को उसकी ऐतिहासिकता और तात्कालिकता, दोनों में ही वस्तुगत तौर पर समझते हैं। लेकिन श्यामसुन्दर जैसे एसयूसीआई परम्परा के 'सेण्टीमेण्टल' मार्क्सवादियों से एक द्वन्द्वात्मक विश्लेषण की मांग करना कुछ ज्यादा ही हो जायेगा, जो हर नये परिवर्तन पर या तो ताली पीटने या छाती पीटने के लिए तत्पर खड़े रहते हैं! मज़ेदार बात यह है कि श्यामसुन्दर का मानना है कि चूंकि हम जाति व्यवस्था के पूंजीवादी उत्पादन पद्धति द्वारा उत्सादन का स्वागत नहीं कर रहे हैं और उस पर विलाप कर रहे हैं, इसलिए हम उत्सादन को नहीं समझते। यह कौन-से ग्रह के प्राणियों की कुतर्क पद्धति है? ऊपर से श्यामसुन्दर एक 'हैबिचुअल लायर' के समान फिर से झूठ बोल रहे हैं। अरविन्द ट्रस्ट के प्रमुख पेपर (http://arvindtrust.org/Caste-question-and-its-solution-a-Marxist-approach) और मेरे जाति व्यवस्था के इतिहास-लेखन पर पेश पेपर (http://arvindtrust.org/archives/298), दोनों में ही हमने

मार्क्स की इस प्रसिद्ध भविष्यवाणी का समर्थन करते हुए पूंजीवादी विकास के साथ जाति व्यवस्था के तीन में से दो आयामों के क्षीण होने को ऐतिहासिक तौर पर एक प्रगतिशील परिघटना माना है, न कि उस पर विलाप किया है। साथ ही हमने यह भी स्पष्ट किया है कि उन कठमुल्लावादी मार्क्सवादियों की समझदारी कि जाति अब केवल अधिरचना में रह गयी है, अज्ञानतापूर्ण है। यह समझना अनिवार्य है कि पूंजीवादी उत्पादन पद्धति ने जाति व्यवस्था को किस प्रकार सहयोजित और समायोजित किया है क्योंकि इसके बिना पूंजीवादी जाति व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष की ठोस रणनीति और रणकौशल नहीं तैयार किये जा सकते। *क्या यह विलाप है? श्यामसुन्दर को ऐसा ही लगता है क्योंकि उनका 'सेण्टिमेण्टल' वामपंथ उनसे छूटता नहीं है। इसलिए या तो वे हर्षातिरेक में लोट-पोट पाए जाते हैं, या विलाप में बिसूरते हुए बरामद होते हैं, या "काश" जैसे शब्दों की रट लगाये रूमानी अफ़सोस के कीचड़ में लथपथ मिलते हैं।* मार्क्सवादी वस्तुगत व ऐतिहासिक विश्लेषण उनके लिए हीब्रू भाषा के समान है। यही कारण है कि वे न तो हमारे प्रमुख पेपर को समझ पाए हैं और न ही हमारे जाति व्यवस्था के इतिहास-लेखन सम्बन्धी पेपर को। हम इतिहास-लेखन सम्बन्धी हमारे पेपर से एक छोटे-से उद्धरण से श्यामसुन्दर की बौद्धिक हाथ की सफाई का पर्दाफाश करते हैं:

"एक दूसरा स्तर जिस पर अंग्रेज़ों ने जाति व्यवस्था को प्रभावित किया था, वह था एक हद तक उद्योगों के विकास और रेलवे को लाने में उनकी भूमिका। मार्क्स ने कहा था कि रेलवे और उद्योगों के विकास के साथ जाति व्यवस्था में मौजूद आनुवंशिक श्रम विभाजन टूटेगा। यह बात मोटे तौर पर सही साबित हुई। अंग्रेज़ों द्वारा उद्योगों का विकास बहुत बड़े पैमाने पर नहीं किया गया था। एक मायने में पुराने उद्योग-धन्धे तबाह हुए थे, और कुछ नये औद्यागिक केन्द्र विकसित हुए थे, जिनका काम था कच्चा माल आपूर्ति करना। लेकिन कलकत्ता, बम्बई, सूरत, अहमदाबाद आदि जैसे औद्योगिक केन्द्रों में जो सर्वहारा वर्ग पैदा हुआ, उसके बीच, जाहिरा तौर पर रूढ़ आनुवंशिक श्रम विभाजन होना सम्भव नहीं था। यह सच है कि इस सर्वहारा वर्ग के बीच ज़्यादातर दलित और निम्न जातियों के लोग थे। लेकिन इन जातियों में स्वयं भी तो एक रूढ़ पेशागत विभाजन हुआ करता था। यह रूढ़ आनुवंशिक श्रम विभाजन टूटने की प्रक्रिया अंग्रेज़ों के दौर में शुरू हो गयी थी। निश्चित तौर पर, यह प्रक्रिया देश के आज़ाद होने और यहाँ पूँजीवादी विकास होने के साथ ज़्यादा तेज़ी से आगे बढ़ी। लेकिन यह एक निर्विवाद तथ्य है कि इसके बीज औपनिवेशिक काल में पड़ चुके थे।" (अभिनव, 2014, *जाति व्यवस्था सम्बन्धी इतिहास लेखन: कुछ आलोचनात्मक प्रेक्षण,* जाति प्रश्न और मार्क्सवाद, अरविन्द ट्रस्ट, लखनऊ)

एक अन्य उद्धरण भी देखें:

"एक बात स्पष्ट है। पूँजीवाद और बड़े पैमाने के उद्योग-धन्धों के विकास के साथ, और साथ ही शहरीकरण के आगे बढ़ने के साथ जाति के दो पहलू समाप्ति की ओर बढ़ रहे हैं। पहला, आनुवंशिक श्रम विभाजन। अब जन्म के आधार पर किसी के कार्य या पेशे को निर्धारित करने की बात करना दूर की कौड़ी हो गयी है। बहुत से स्वरोज़गार के पेशों में अभी भी जातिगत चरित्र दिखता है, जैसे कि नाई, धोबी आदि। लेकिन यह अब रूढ़ श्रम विभाजन नहीं है, जिसे कि लाँघा न जा सके। दूसरी बात, अब खान-पान को लेकर जुड़े पूर्वाग्रह भी काफ़ी हद तक टूटे हैं, क्योंकि नये किस्म के गाँवों में उनका उसी रूप में बने रहना सम्भव नहीं है, और शहर में तो उनका पूरी तरह टूट जाना अवश्यम्भावी है। हम कह सकते हैं कि जाति की ये दो पंजिकाएँ अब इतनी धूमिल हो चुकी हैं, कि उन्हें कुछ समय में हम लुप्तप्राय

कह सकेंगे। पूँजीवादी उत्पादन पद्धति और उत्पादन सम्बन्धों के साथ जाति के ये पहलू मेल नहीं खाते हैं, इसलिए पूँजीवाद के साथ उनकी यही नियति थी।"*(वही)*

उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि पूंजीवादी उत्पादन पद्धति के आने के साथ जाति व्यवस्था में जो परिवर्तन आये हम उन्हें ऐतिहासिक तौर पर प्रगतिशील मानते हैं, लेकिन साथ ही अपने परिवर्तित रूप में जो पूंजीवादी जाति व्यवस्था आज मौजूद है हम उसके विरुद्ध संघर्ष की चुनौतियों पर भी चर्चा करते हैं। यह न तो ताली पीटने का विषय है और न ही छाती पीटने का। अब कोई भी पाठक समझ सकता है कि इन उद्धरणों में विलाप या पुष्प वर्षा, ताली पीटना या छाती पीटना, आदि जैसी मूर्खतापूर्ण 'बाइनरी' को श्यामसुन्दर जैसे एसयूसीआई-मार्का 'सेण्टिमेण्टल' वामपंथी ही देख सकते हैं, जिन्हें वस्तुगत समाज-वैज्ञानिक विश्लेषण का 'क ख ग' भी नहीं पता है।

(2) उत्सादन की मार्क्सवादी समझदारी का श्यामसुन्दरीय पुनरुत्सादन

अब देखते हैं कि श्यामसुन्दर ने उत्सादन की समझदारी का कैसे पुनरुत्सादन कर डाला है। श्यामसुन्दर लिखते हैं:

"हेगेल के अनुसार, विकास की प्रक्रिया में जो चीज उत्सादित होकर सरल से संश्लिष्ट अथवा निम्न से उच्च स्तर पर प्रवेश करती है तो उसका उन्मूलन भी होता है और वह बनी भी रहती है। लेकिन किसी परिघटना में किसी चीज़ का उन्मूलन भी हो जाना और उसका बने भी रहने की स्थिति से हर हाल में यह नहीं कहा जा सकता कि वह परिघटना एक निम्न स्तर की परिघटना से एक उच्च स्तर की संश्लिष्ट परिघटना में रूपांतरित हो गयी है। इसे समझने के लिए भी हम ऊपर दिए गए रूसी उदाहरण का सहारा ले सकते हैं। सन् 1861 में सामंती जारशाही सत्ता ने जब भूदास प्रथा का उन्मूलन भी कर दिया था और वह बनी भी रही थी तो इस स्थिति को हम 'हेगेलीय भाषा में' भूदासता का उत्सादन हो गया है, नहीं कह सकते और न ही यह कह सकते कि भूदासता एक निम्न स्तर की परिघटना से यह उच्च (संश्लिष्ट) स्तर की परिघटना बन गयी है। जिसमें पूर्ववर्ती विकास की अन्तर्वस्तु संसाधित रूप में उपस्थित है। परन्तु यदि आप सन 1861 में भूदासता के उन्मूलन हो जाने और उसके बने रहने को ही हेगेलीय भाषा में उत्सादन कहने की जिद्द करते हो तो हमारा कहना है कि लेनिन ने भूदासता के खात्मे के बाद बची भूदासता को, भूदासता के अवशेष ही कहा है, भूदासता का उत्सादन अथवा सब्लेशन नहीं।"

उपरोक्त उद्धरण की अज्ञानता को ठीक तरह से समझने के लिए पहले उत्सादन का अर्थ समझ लेना उपयोगी होगा। 'सबलेशन' के लिए जर्मन शब्द है Aufheben; 'सबलेशन' इसका बहुत सटीक अनुवाद नहीं है, लेकिन यही इसके निकटतम है। इस शब्द का हेगेल के लिए तीन अर्थ है और हेगेल जहां कहीं भी इसे इस्तेमाल करते हैं वहां इसका एक साथ ये तीनों ही अर्थ होता है: (1) समाप्त करना, उन्मूलित करना, खारिज करना; (2) संरक्षित करना, बचाकर रखना; (3) ऊपर उठाना, स्तरोन्नयन करना। इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ यह है कि दो परस्पर विरोधी पहलुओं के अन्तरविरोध में दूसरा पहलू पहले पहलू को समाप्त भी करता है, उसे संरक्षित भी करता है और उसका स्तरोन्नयन भी करता है। इसका क्या अर्थ है, इसे हेगेल के शब्दों में ही समझते हैं। हेगेल लिखते हैं:

"उत्सादित करना, और उत्सादित (जो कि आदर्श रूप में एक क्षण के रूप में अस्तित्वमान रहता है), दर्शन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण अवधारणाओं में से एक है। यह एक **बुनियादी निर्धारण** (fundamental determination) है जो समूचे दर्शन में बार-बार घटित होता है, जिसका अर्थ स्पष्ट तौर पर समझना अनिवार्य है और इसे 'कुछ नहीं' (nothing) से अलग करना भी अनिवार्य है। इस प्रकार जो उत्सादित होता है, वह 'कुछ नहीं' में अपचयित नहीं

होता। 'कुछ नहीं' तात्कालिक (immediate) है; जबकि जो उत्सादित होता है, वह एक मध्यस्थता (mediation) का नतीजा है; यह एक अनस्तित्व (non-being) है लेकिन जिसके नतीजे के तौर पर उसका मूल एक अस्तित्व में है। इसलिए इसमें वह निर्धारित अस्तित्व भी है जिससे यह पैदा होता है।...भाषाई तौर पर, 'उत्सादित करने' के दो ही अर्थ हैं: एक तरफ इसका अर्थ है संरक्षित करना, कायम रखना, और साथ ही उसका अर्थ समाप्त करना, खत्म करना भी है। लेकिन 'संरक्षित करने' में भी एक नकारात्मक तत्व है, यानी, इसके प्रभावों में से कुछ को हटाया गया है, ताकि इसे संरक्षित किया जा सके। इसलिए जो उत्सादित होता है, वह संरक्षित भी होता है; इसने केवल अपनी तात्कालिकता (यानी मध्यस्थता के अभाव की स्थिति) को खोया है, लेकिन इस वजह से यह नष्ट नहीं हो गया है।

"*हमने 'उत्सादित करने' की जो दो परिभाषाएं दी हैं उन्हें इसके शब्दकोश वाले अर्थों के रूप में उद्धृत किया जा सकता है।* लेकिन यह निश्चित तौर पर विलक्षण बात है कि कोई भाषा दो विपरीत अर्थों के लिए एक ही शब्द का प्रयोग कर रही है...कोई चीज़ उत्सादित उसी अर्थ में होती है कि वह अपने विपरीत के साथ एकता में प्रवेश करती है; किसी प्रतिबिम्बित वस्तु के रूप में इस अधिक विशिष्ट तात्पर्य में, इसे सटीक अर्थ में एक क्षण कहा जा सकता है।...हम अक्सर पाएंगे कि दर्शन की तकनीकी भाषा ऐसे प्रतिबिम्बित निर्धारणों के लिए लैटिन शब्दों का इस्तेमाल करता है, क्योंकि मातृभाषा में उनके लिए कोई शब्द नहीं है, या अगर है, जैसा कि इस मामले में है, तो इसलिए क्योंकि इसकी अभिव्यक्ति से दिमाग में कोई ऐसी चीज आती है जो तात्कालिक (*यानी मध्यस्थता से रिक्त - लेखक*) है, जबकि वह विदेशी भाषा किसी ऐसी चीज़ की ओर इशारा कर रही है जो कि प्रतिबिम्बित है (*यानी जिसमें मध्यस्थता की भूमिका है - लेखक*)।" (हेगेल, *साइंस ऑफ लॉजिक,* ज़ोर हमारा)

यहां हेगेल द्वारा प्रस्तुत विचार के निहितार्थों पर थोड़ी चर्चा अनिवार्य है। हेगेल का संक्षेप में और सरल शब्दों में यह अर्थ है कि उत्सादन के फलस्वरूप एंटीथीसिस थीसिस के साथ अपने अन्तरविरोध के नतीजे के तौर पर थीसिस को अभिभूत करती है (overcome), उसका उन्मूलन करती है, लेकिन साथ ही उसके उन तत्वों को संरक्षित करती है, जो एंटीथीसिस के साथ सापेक्षिक सामंजस्य में है, *लेकिन यह संरक्षण बस सामान्य रूप से 'बचाए रखना' या 'कायम रखना' नहीं है, बल्कि इन तत्वों का भी रूपान्तरण होता है, या स्तरोन्नयन होता है।*दूसरी बात यह है कि उत्सादन या determinate negation और फिर निषेध का निषेध की अवधारणा को आप विकास की किसी भी प्रक्रिया पर मनमाने तरीके से नहीं लागू कर सकते हैं। ज़ारशाही द्वारा 1861 में भूदास प्रथा का कानूनी उन्मूलन कोई determinate negation नहीं है; यह समाज के एक चरण से दूसरे चरण में जाने का परिचायक नहीं है। इसलिए determinate negation को समझना ज़रूरी है। आइये देखें कि लेनिन ने 'दर्शन सम्बन्धी नोटबुक्स' में हेगेल का अध्ययन करते हुए इस पर क्या लिखा है:

"न तो अनुर्वर निषेध, न ही उद्देश्यहीन निषेध, न ही संशयपूर्ण निषेध, न ढुलमुलपन, और न ही सन्देह द्वन्द्ववाद की विशेषता और सार है, जिसके अन्दर निस्सन्देह निषेध का तत्व है, और इसके सबसे महत्वपूर्ण तत्व के रूप में है -- नहीं, निषेध का यह तत्व एक जुड़ाव (कनेक्शन) है, विकास का एक क्षण है जिसमें कि सकारात्मक को कायम रखा गया है; यानी बिना किसी ढुलमुलपन या सारसंग्रहवाद के।" (लेनिन, *फिलोसॉफिकल नोटबुक्स,* कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-38)

लेनिन के उपरोक्त उद्धरण को एंगेल्स के निम्न उद्धरण से जोड़कर पढ़ें तो बात और भी स्पष्ट हो जाती है:

"द्वन्द्ववाद में निषेध का अर्थ सिर्फ 'नहीं' कहना, या यह घोषणा कर देना कि अब वह अस्तित्व में नहीं है या मनमुआफिक तरीके से उसे नष्ट कर देना नहीं है...*निषेध का रूप यहां सर्वप्रथम दी गयी प्रक्रिया के सामान्य और गौण तौर पर उसके विशिष्ट रूप से निर्धारित होता है। इसलिए मुझे पहले निषेध को अनिवार्यत: इस रूप में पैदा करना होगा कि दूसरा निषेध हो सके या दूसरा निषेध (यानी निषेध का निषेध - लेखक) सम्भव हो सके।*" (एंगेल्स, *ड्यूहरिंग मतखण्डन*)

यानी, उत्सादन या determinate negation वही होगा, जो कि दूसरे निषेध, यानी कि निषेध का निषेध की ज़मीन तैयार करे। मिसाल के तौर पर, सामन्तवाद के determinate negation के तौर पर पूंजीवाद अस्तित्व में आता है क्योंकि पूंजीवाद अपने निषेध की ज़मीन स्वयं तैयार करता है। मार्क्स के इस उद्धरण से यह बात और स्पष्ट हो जायेगी। मार्क्स 'पूंजी' के पहले खण्ड में लिखते हैं:

"विनियोजन की पूंजीवादी पद्धति, जो कि उत्पादन की पूंजीवादी पद्धति से पैदा होती है, पूंजीवादी निजी सम्पत्ति को पैदा करती है। यह व्यक्तिगत निजी सम्पत्ति का पहला निषेध है, जो कि मालिक के श्रम पर आधारित थी। लेकिन पूंजीवादी उत्पादन एक प्राकृतिक प्रक्रिया की निष्ठुरता के साथ, स्वयं अपने निषेध को पैदा करती है। यह निषेध का निषेध है। यह निजी सम्पत्ति को पुनर्स्थापित नहीं करता, लेकिन यह निश्चित तौर पर व्यक्तिगत सम्पत्ति को पूंजीवादी युग की उपलब्धियों के आधार पर स्थापित करता है..." (मार्क्स, *पूंजी, खण्ड-1*)

इसी नयी समाजवादी व्यवस्था में व्यक्तिगत सम्पत्ति किस रूप में स्थापित होती है, इसके बारे में एंगेल्स लिखते हैं:

"सामाजिक सम्पत्ति भूमि और अन्य उत्पादन के साधनों पर विसरित होती है, लेकिन व्यक्तिगत सम्पत्ति में उत्पाद, यानी कि उपभोग की वस्तुएं आती हैं।" (एंगेल्स, *ड्यूहरिंग मत-खण्डन)*

लेनिन ने अपने इस वाक्य में उत्सादन या determinate negation के अर्थों को पूर्ण रूप से स्पष्ट कर दिया है:

"द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के लिए अन्तर, सम्बन्ध, और संक्रमण के लक्षण अनिवार्य हैं। बिना इसके एक सरल पुष्टि (जो कि सरल निषेध भी होती है - लेखक) पूर्ण नहीं है, जीवन से रिक्त है, मृत है।" (शिरोकोव, *टेक्स्टबुक ऑफ मार्क्सिस्ट फिलॉसफी,* मार्क्सिज्म-लेनिनिज्म संस्थान, मॉस्को, 1941, में उद्धृत)

एंगेल्स ने भी इसे इन शब्दों में स्पष्ट किया है, जैसा कि हमने ऊपर भी आंशिक तौर पर उद्धृत किया था:

"द्वन्द्ववाद में निषेध का अर्थ केवल इंकार कर देना, या यह घोषणा कर देना नहीं है कि अमुक वस्तु नहीं है; या किसी वस्तु को मनचाहे ढंग से नष्ट कर देना भी निषेध नहीं है। बहुत दिनों पहले स्पिनोज़ा ने कहा था: Omnis determinatio est negatio -- प्रत्येक निर्धारण एक निषेध है। और इसके अलावा यहां जिस प्रकार के निषेध की चर्चा है, वह प्रथमत: प्रक्रिया विशेष के सामान्य स्वरूप से और द्वितीयत: उसके विशिष्ट स्वरूप से निर्धारित होता है। *मुझे न केवल निषेध करना पड़ता है, बल्कि निषेध का उत्सादन भी करना पड़ता है। इसलिए मुझे पहले निषेध की ऐसी व्यवस्था करनी पड़ती है जिससे दूसरे निषेध की भी सम्भावना बनी रहे, या जिससे दूसरा निषेध भी सम्पन्न हो जाये।*" (एंगेल्स, *ड्यूहरिंग मत-खण्डन,* ज़ोर हमारा)

यानी कि हेगेलीय निषेध, या determinate negation, *या उत्सादन उसी निषेध को कहते हैं, जो कि निषेध का निषेध, यानी कि दूसरे निषेध को सम्भव बनाता है। क्या रूस में 1861 में भूदास प्रथा को ज़ारशाही द्वारा कानूनी*

तौर पर खत्म किया जाना ऐसा उत्सादन था? नहीं! लेकिन, चूंकि श्यामसुन्दर को उत्सादन और निषेध का निषेध का अर्थ ही नहीं पता, इसलिए वे रूस के इतिहास से इस उदाहरण को उठा लाए हैं और ऐसी मूढ़ता और अज्ञान का प्रदर्शन कर रहे हैं, जिसकी उम्मीद उनसे...बिल्कुल की जाती है!

एक अन्य पहलू जिसे कि श्यामसुन्दर समझने में बुरी तरह असफल रहे हैं, वह यह कि किसी परिघटना के विकसित होने की प्रक्रिया के हर नये चरण को उत्सादन नहीं कहा जा सकता है। इसे भी स्पष्ट करने के लिए हम कुछ उदाहरण और उद्धरण पेश करेंगे, ताकि सनद रहे। एंगेल्स ने *ड्यूहरिंग मत-खण्डन* में निषेध का निषेध के नियम को समझाने के लिए एक प्रसिद्ध उदाहरण दिया है। वह इस प्रकार है:

"अपने मूल रूप में, बीज गायब हो जाता है, उसका निषेध हो जाता है और उसके स्थान पर एक पौधा पैदा होता है -- बीज का निषेध। लेकिन इस पौधे का सामान्य जीवन-चक्र क्या है? यह बढ़ता है, इसमें फूल आते हैं, उनका गर्भाधान होता है और अन्ततः वे फिर से जौ के बीज पैदा करते हैं; जब वे पक जाते हैं, तो डंठल सूख जाती है, क्योंकि अब स्वयं इसके निषेध का समय आ गया है। इस निषेध का नतीजा यह होता है, कि हमारे पास फिर से जौ का बीज होता है, एक ही नहीं बल्कि सौ।" (एंगेल्स, *ड्यूहरिंग मत-खण्डन*)

मिखाइलोव्स्की नामक बुद्धिजीवी ने इसकी उसी तरह व्याख्या करने की कोशिश की, जैसे कि श्यामसुन्दर ने यहां उत्सादन के नियम की व्याख्या करने की कोशिश की है। *लेकिन जाक्स लकां के शब्दों में कहें तो, मिखाइलोव्स्की नहीं जानते थे कि वह जानते थे कि वह मूर्खता कर रहे हैं, लेकिन श्यामसुन्दर नहीं जानते हैं कि वह नहीं जानते हैं कि वह मूर्खता कर रहे हैं। इसे मूर्खता की मूर्खता भी कहा जा सकता है!* मिखाइलोव्स्की ने कहा कि एंगेल्स ने पौधे के विकास में केवल दो निषेधों की बात की है, जबकि वे और कई निषेध गिन सकते हैं। जैसे कि डंठल बीज का निषेध करती है, फूल डंठल का निषेध करता है, फल फूल का निषेध करता है, आदि। प्लेखानोव ने मिखाइलोव्स्की का जवाब उन शब्दों में एक सदी पहले ही दे दिया था, जिन शब्दों में हम आज श्यामसुन्दर का देना चाहते हैं! देखिये कैसे:

"*एक फूल पौधे का एक अंग होता है और वह पौधे का उतना ही निषेध करता है जितनी कि श्री मिखाइलोव्स्की की खोपड़ी श्री मिखाइलोव्स्की का निषेध करती है। लेकिन फल, यानी, गर्भाधानित अण्डाणु दिये गये ऑर्गनिज़्म का वास्तव में एक निषेध है क्योंकि इसमें एक नये जीवन के शुरुआत का आरम्भ बिन्दु बनने की क्षमता है।*" (प्लेखानोव, *दि मोनिस्ट व्यू ऑफ हिस्ट्री*)

इस उद्धरण की तर्ज पर ही हम कह सकते हैं कि *1861 से पहले रूस जिस चरण में था वह 1861 के बाद के चरण का उतना ही निषेध करता है, जितना कि श्यामसुन्दर का सिर श्यामसुन्दर का निषेध करता है!* जैसा कि आप देख सकते हैं उत्सादन के नियम को श्यामसुन्दर समझते ही नहीं हैं और यहां-वहां, बेतरह, अन्धाधुन्ध कहीं भी इस नियम को लागू करने का मूर्खतापूर्ण प्रयास किये जा रहे हैं। अब ज़रा इस पर निगाह डालें कि हमने उत्सादन की अवधारणा का इस्तेमाल कहां किया है। *हम सामन्ती व्यवस्था और पूंजीवादी व्यवस्था के बीच हुए संक्रमण, यानी एक चरण से दूसरे चरण में संक्रमण की बात कर रहे हैं और यहां हम एक* determinate negation *की बात कर रहे हैं। इसके फलस्वरूप हमने यह दिखलाया है कि सामन्ती जाति व्यवस्था किस तरीके से उत्सादित होकर पूंजीवादी व्यवस्था के दौर में एक पूंजीवादी जाति व्यवस्था के तौर पर मौजूद है।* ठीक उसी प्रकार जैसे प्राक्-सामन्ती उत्पादन व्यवस्था के दौर की जाति व्यवस्था को सामन्ती उत्पादन पद्धति ने अपने अनुसार सहयोजित और समायोजित किया, दूसरे

शब्दों में, उत्सादित किया था। ऊपर हम इस बात का ज़िक्र कर चुके हैं कि अलग-अलग उत्पादन पद्धतियों के दौरान जाति व्यवस्था में किस प्रकार के परिवर्तन हुए। अब याद करें कि उत्सादन का क्या अर्थ है: उत्सादन का अर्थ है, एक साथ, समाप्त करना, संरक्षण करना और स्तरोन्नयन या रूपान्तरण करना। वर्ण-जाति व्यवस्था के अस्तित्व में आने के बाद से हर नयी उत्पादन पद्धति ने अपने अनुसार जाति व्यवस्था के कुछ अंशों का समापन किया, कुछ अंशों को संरक्षित किया, लेकिन जैसा कि हेगेल के ऊपर उद्धरित उद्धरण में हेगेल ने बताया है, *हूबहू संरक्षित नहीं किया बल्कि स्तरोन्नयित/रूपान्तरित रूप में संरक्षित किया।* इसलिए आज की सजातीय विवाह की प्रथा 500 ईसवी पूर्व की सजातीय विवाह की प्रथा नहीं है, बल्कि पूंजीवादी समाज व्यवस्था व आर्थिक आधार ने उसे अपने अनुसार रूपान्तरित किया है। आनुवांशिक श्रम विभाजन जिस आंशिक रूप में मौजूद है, वह वही आनुवांशिक श्रम विभाजन नहीं है जो चन्द्रगुप्त मौर्य के दौर में मौजूद था; उसे भी हर नयी उत्पादन पद्धति ने अपने अनुसार बदला और रूपान्तरित किया। *दूसरी बात, जिसे हम यहां फिर से दुहराना चाहेंगे वह यह कि जाति व्यवस्था अपने आपमें कोई उत्पादन पद्धति नहीं है।* इसलिए वह किसी भी समाज का पूर्ण आर्थिक आधार नहीं हो सकती, सिवाय उस दौर के जब कि वर्ण और वर्ग पूर्णत: अतिच्छादित थे। यह आर्थिक आधार का एक अंग हो सकती है। *तीसरी बात यह कि जाति व्यवस्था अपने आप में सामन्ती उत्पादन सम्बन्ध नहीं है और इसीलिए वह सामन्ती अवशेष भी नहीं है; जो ऐसा मानते हैं, उन्हें इस बात की व्याख्या करने के लिए द्रविड़ प्राणायाम करना पड़ेगा कि सामन्ती उत्पादन पद्धति के प्रादुर्भाव से पहले जाति व्यवस्था क्या थी? और प्रादुर्भाव होने के बाद वह क्या बन गयी?*

(3) श्यामसुन्दर का क्रुद्ध प्रश्न: "तुमने इसको उत्सादन क्यों *बोला?*"

श्यामसुन्दर अपने पूरे पत्र में निरन्तर ऐसे ही उपहासास्पद, हास्यास्पद, यहां तक कि बचकाने अन्तरविरोधों के गड्ढे में लोटपोट हैं। ऐसे ही एक अन्य अन्तरविरोध को देखते हैं। श्यामसुन्दर लिखते हैं:

"गति के यांत्रिक रूप को लीजिये जोकि गति का एक सरलतम रूप है लेकिन गति का यह सरलतम रूप गति के उच्चतर रूप ऊष्मा में भी विद्यमान होता है पर ऊष्मा में यांत्रिक गति उत्सादित तौर पर विद्यमान होती है। ऊष्मा यांत्रिक गति की परिघटना की अपेक्षा एक उच्च संश्लिष्ट स्तर की परिघटना होती है जिसमें पूर्ववर्ती विकास की अंतर्वस्तु यानी यांत्रिक गति संशाधित (यह पता नहीं क्या होता है - लेखक) रूप में मौजूद होती है। विकास की प्रक्रिया में यह कोई प्रतिक्रियावादी चीज़ नहीं होती बल्कि एक आगे बढ़ी हुई मंजिल होती है। विद्युत गति भी यांत्रिक गति के बिना संभव नहीं है, यांत्रिक गति विद्युत गति में उत्सादित तौर पर विद्यमान रहती है; रासायनिक और जैव गतियां, गति के और भी संश्लिष्ट रूप हैं, जिनमें यांत्रिक गति उत्सादित तौर पर मौजूद रहती है। तो हम देखते हैं कि उत्सादन की प्रक्रिया के जरिये यांत्रिक गति, गति के उच्चतर रूपों में वस्तुनिष्ठ तौर पर उत्सादित रूप में मौजूद रहती है पर गति के उच्चतर संश्लिष्ट रूप के नामकरण में उसे कोई स्थान नहीं मिलता। उदाहरण के तौर पर हम रासायनिक गति को रासायनिक यांत्रिक गति नहीं कहते हैं बल्कि महज़ रासायनिक गति ही कहते हैं। *अब यदि 'हेगेलीय भाषा में' जातिवाद वर्तमान भारतीय पूंजीवादी व्यवस्था में उत्सादित तौर पर मौजूद है तो इसे भी पूंजीवादी जातिवादी व्यवस्था नहीं कहा जा सकता।*" (ज़ोर हमारा)

अब इस उद्धरण में श्यामसुन्दर अपने ही अन्तरविरोधों के जाल में कैसे लड़बड़ा गये हैं, वह साफ देखा जा सकता है। पहली बात तो यह है कि यह उदाहरण ही विज्ञान की दृष्टि से भी समस्याओं से भरा हुआ है, लेकिन हम श्यामसुन्दर के अन्तरविरोधों को देखने के लिए कुछ समय उन्हीं के नियम से खेल को खेलते हैं। पहले वह स्वीकार कर रहे हैं कि गति के उच्चतर रूपों में गति के निम्नतर रूप "संशाधित" (मेरे विचार में उनका अर्थ संसाधित है) रूप में मौजूद रहते हैं और यह वास्तव में उत्सादन की प्रक्रिया ही है। लेकिन इसे, मिसाल के तौर पर, रासायनिक यांत्रिक गति

नहीं कहा जाता है, सिर्फ रासायनिक गति ही कहते हैं। ठीक इसलिए, बकौल श्यामसुन्दर, पूंजीवादी व्यवस्था में उत्सादित तौर पर मौजूद जाति व्यवस्था को पूंजीवादी जाति व्यवस्था नहीं कहा जा सकता है। वैसे तो अगर श्यामसुन्दर के इस त्रुटिपूर्ण उदाहरण पर उन्हीं के दृष्टिकोण से विचार करें, तो भी यह तर्क भोथरा है क्योंकि रासायनिक गति और यांत्रिक गति के बीच एक प्रक्रिया के एक चरण से दूसरे चरण में गुणात्मक संक्रमण का रिश्ता है, और वे दोनों एक ही genus का अंग हैं। हम पहले भी बता चुके हैं कि जाति व्यवस्था पूंजीवाद यासामन्तवाद के समान कोई अलग उत्पादन व्यवस्था नहीं बल्कि वर्गों के अस्तित्व में आने की प्रक्रिया में एक निश्चित मंजिल पर आयी सामाजिक-आर्थिक संरचना है, जिसे अलग-अलग उत्पादन पद्धतियां अपने अनुसार सहयोजित और समायोजित करती रही हैं। इस बिन्दु पर हम ऊपर विस्तार से बात रख चुके हैं। जाति व्यवस्था और पूंजीवाद एक समेकित विकास प्रक्रिया के दो चरण नहीं हैं। इसलिए पूंजीवाद और जाति व्यवस्था की एक genus के दो तत्वों या परिघटनाओं के रूप में तुलना नहीं की जा सकती। *सामन्तवाद से पूंजीवाद में संक्रमण होता है; जाति व्यवस्था से पूंजीवाद में संक्रमण नहीं होता। इसलिए 'पूंजीवादी सामन्ती व्यवस्था' या 'रासायनिक यांत्रिक गति' की बात नहीं की जा सकती, लेकिन पूंजीवादी जाति व्यवस्था की बात की जा सकती है।*

दूसरी बात, ऊपर के उद्धरण में श्यामसुन्दर यह स्वीकार कर रहे हैं कि यांत्रिक गति उत्सादित होकर रासायनिक गति में मौजूद रहती है, *लेकिन चूंकि 'रासायनिक यांत्रिक गति' कहने की परम्परा नहीं है, इसलिए 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' भी नहीं कहा जाना चाहिए! यानी श्यामसुन्दर के दिमाग़ में जो बात कील की तरह फंसी हुई है, वह केवल नामकरण का मसला है!* वैसे तो यह पूरी तर्क पद्धति ही बकवास है, लेकिन अगर पल भर को हम श्यामसुन्दर के इस बचकाने खेल को खेलें भी तो सवाल यह है कि बात अन्तर्वस्तु की होनी चाहिए न कि नामकरण पद्धति की; मूल प्रश्न तो यह था कि जाति व्यवस्था उत्सादित होकर पूंजीवाद में मौजूद है या नहीं; अगर है तो श्यामसुन्दर इसे अगर 'आबरा का डाबरा' कहना भी चाहते हैं, तो कह सकते हैं! इससे इस तथ्य पर कोई फर्क नहीं पड़ेगा कि जाति व्यवस्था उत्सादित तौर पर पूंजीवादी व्यवस्था में मौजूद है। अब याद करें कि हमारे जिस उद्धरण को उद्धृत कर श्यामसुन्दर ने अपने बौद्धिक बौनेपन का मुजाहिरा शुरू किया था, उसमें क्या लिखा था? उसमें यही लिखा था जाति व्यवस्था तन्तुबद्धीकरण और उत्सादन के साथ पूंजीवादी व्यवस्था में मौजूद है। श्यामसुन्दर के पत्र में यहां पहुंच कर आपको लगता है कि आप मूढ़ता के किसी 'डाउनवर्ड स्पाइरल' में नीचे की ओर जा रहे हैं।

आगे श्यामसुन्दर ने अपनी वही बचकानी ग़लती दुहराते हुए पूछा है कि अगर जाति व्यवस्था उत्सादित होकर पूंजीवादी व्यवस्था में मौजूद रहती है, तो यह तो स्वागत योग्य बात है और अगर यह स्वागत योग्य बात है, तो हम उस पर विलाप क्यों कर रहे हैं। हमने ऊपर ही दिखलाया है कि न तो कोई भी सामाजिक परिघटना अपने आप में स्वागत करने या विलाप करने का विषय होती है (वह ऐतिहासिक व समकालीन वस्तुगत मूल्यांकन के लिए होती है ताकि समाज वैज्ञानिक अपने कार्यभार निकाल सके) और न ही हमने अपने पेपर में इस पर कोई विलाप किया है। अगर जाति व्यवस्था के दो आयाम क्षीण हो गये हैं, और तीसरा आयाम संश्लिष्ट रूप ग्रहण करके पूंजीवादी व्यवस्था में मौजूद है, तो क्रांतिकारी समाज वैज्ञानिक इसके ठोस अस्तित्व रूप (mode of existence) की आलोचना रखता है, जिसका अर्थ है इस नयी वास्तविकता से एक आलोचनात्मक रिश्ता कायम करते हुए उसे पूर्णता, गति और अन्तरविरोध के रूप में समझना ताकि उसके उन्मूलन के लिए एक क्रांतिकारी कार्यक्रम तय किया जा सके। इसे अगर श्यामसुन्दर विलाप समझते हैं, तो हम ऐसे बौद्धिक बौनेपन के बारे में क्या कह सकते हैं? हम यही कह सकते हैं कि

उनके स्यापा करने और स्वागत करने के उनके ध्रुवीय विपरीतों के बीच पेण्डुलम के समान दोलन करने के लिए छोड़ दिया जाय और आगे बढ़ा जाय।

(4) जाति व्यवस्था को अधिरचनात्मक अवशेष सिद्ध करने के लिए श्यामसुन्दर की गलतबयानियों और बन्दरपलटियां

आगे श्यामसुन्दर अपनी इस ज़िद को फिर से अभिव्यक्त करते हुए, कि जाति व्यवस्था को केवल एक अधिरचनात्मक अवशेष माना जाय, लेकिन इस प्रक्रिया में वह अपनी नासमझी के कुछ नये उदाहरण पेश कर जाते हैं। श्यामसुन्दर लिखते हैं:

"लेकिन पूंजीपति वर्ग द्वारा जाति व्यवस्था के इस प्रकार के 'उत्सादन' को शायद बिगुल नेतृत्व भी प्रगतिशील कदम के तौर पर मान्यता देने को तैयार नहीं होगा, और यही वह असमाधेय अन्तरविरोध है जिसका जिक्र ऊपर किया गया है। अत: वर्तमान भारतीय पूंजीवादी व्यवस्था में अतीत की जातिवादी व्यवस्था के मात्र अवशेष ही मौजूद हैं। हेगेलीय द्वन्द्ववादी अवधारणा 'उत्सादन' अथवा हेगेलीय द्वन्द्ववाद के 'निषेध का निषेध' नियम को भारतीय जातिवादी व्यवस्था पर लागू करके इसे उच्च स्तर की संश्लिष्ट परिघटना की संज्ञा देना, हेगेल और मार्क्सीय द्वन्द्ववाद के नियमों से अपना अज्ञान प्रदर्शित करने के अलावा और कुछ नहीं है। अतीत के सामंती अवशेषों और निम्नतर स्तर की परिघटना का उच्च स्तर की संश्लिष्ट परिघटना के में उत्साहित और पर मौजूद रहने के अन्तर को लेनिन की नीचे दी गयी इन तीन पंक्तियों से बखूबी समझा जा सकता है...: "...हमारे यहां रूस में अब *स्त्रियों की अधिकारहीनता अथवा अधिकार अपूर्णता* जैसी नीचता, वीभत्सता तथा दुष्टता, सामन्तवाद तथा मध्ययुगीनता का वह घृणास्पद अवशेष बाकी नहीं है, जिसे बिना किसी अपवाद के संसार के हद देश का लोभी पूंजीपति वर्ग तथा मंदबुद्धि और भयभीत निम्न-पूंजीपति वर्ग नया रूप दे रहा है।" लेनिन ने कहा कि सामन्तवाद तथा मध्ययुगीनता के घृणास्पद अवशेषों को नया रूप देकर हर देश का लोभी शासक पूंजीपति वर्ग तथा मंद बुद्धि और भयभीत निम्न पूंजीपति वर्ग अपने हितों की पूर्ति के लिए इस्तेमाल करता है। यहां लेनिन ने सामंती तथा मध्युगीनता के अवशेषों को पूंजीपति वर्ग द्वारा अपने वर्ग स्वार्थ में नया रूप दिये जाने की बात कही। 'बिगुल' वाले साथी सामंती अवशेषों को पूंजीपति वर्ग द्वारा यह नया रूप दिये जाने को ही हेगेल की आड़ लेकर शायद सामंतवाद के उत्सादन की संज्ञा दे डालें।" (ज़ोर हमारा)

उपरोक्त उद्धरण के बारे में कुछ चीजें स्पष्ट तौर पर देखी जा सकती हैं: लेनिन को सन्दर्भ से काटकर उद्धृत करना, मूर्खतापूर्ण तरीके से मिस्कोटेड हिस्से की व्याख्या करना, पुरानी कूपमण्डूकतापूर्ण बातों को दुहराना और कुछ नयी कूपमण्डूकतापूर्ण बातें कहना। आइये देखते हैं कैसे। *पहली बात तो यह है कि लेनिन इस उद्धरण में स्त्रियों के राजनीतिक अधिकारों, विशेष तौर पर, मताधिकार और बराबर वेतन के अधिकार की बात कर रहे हैं, वे आम तौर पर पितृसत्तात्मक स्त्री उत्पीड़न और उसके समूचे इतिहास और भविष्य की बात नहीं कर रहे हैं, जिस विषय में हम लेनिन को आगे उद्धृत करके दिखलाएंगे कि वे स्त्रियों के उत्पीड़न और पितृसत्ता के विषय में क्या सोचते थे।* आइये देखते हैं कि क्रांति के बाद लेनिन ने स्त्रियों के उत्पीड़न और समाजवादी समाज में इस समस्या के हल के बारे में क्या कहा है:

"साथियो, स्त्रियों की स्थिति का प्रश्न सोवियत सत्ता द्वारा शुरू से ही उठाया गया था। मुझे लगता है कि समाजवाद में संक्रमण की प्रक्रिया में किसी भी मज़दूर राज्य का दोहरा कार्यभार होता है। *पहला हिस्सा* सापेक्षिक रूप से सरल और आसान होता है। *यह उन पुराने कानूनों के बारे में होता है जो कि स्त्रियों को पुरुषों की तुलना में असमानता की स्थिति में रखते हैं।*

"...किसी भी जनवादी यूरोपीय देश ने, किसी भी उन्नत गणराज्य ने (पुराने पड़ चुके कानूनों को रद्द करने के कार्य) पर अमल नहीं किया है, क्योंकि जहां भी पूंजीवाद है, जहां भी ज़मीन और कारखाने निजी सम्पत्ति हैं, जहां भी पूंजी की शक्ति कायम है, वहां पुरुष अपने विशेषाधिकार भी बनाये रखते हैं। रूस में इस पर अमल करना इसीलिए सम्भव था क्योंकि यहां 25 अक्टूबर, 1917 से मज़दूरों की सत्ता कायम हो गयी है।

"*...लेकिन केवल कानून, निश्चित तौर पर पर्याप्त नहीं हैं और हम महज़ आज्ञप्तियों से सन्तुष्ट नहीं हैं...हम अपने आपको बताते हैं, कि यह, जाहिरा तौर पर केवल एक शुरुआत है।*

"घर में अपने कार्य के कारण स्त्री अभी भी मुश्किल स्थिति में है। *उसकी पूर्ण मुक्ति को असलियत बनाने और उसे पुरुष के बराबर बनाने के लिए घरेलू कार्य का समाजीकरण करना और सामान्य उत्पादक श्रम में स्त्रियों की हिस्सेदारी अनिवार्य है।*" (लेनिन, *दि टास्क ऑफ वर्किंग विमेंस मूवमेण्ट इन दि सोवियत रिपब्लिक,* 1919, ज़ोर हमारा)

अपने प्रसिद्ध लेख 'एक महान शुरुआत' में लेनिन लिखते हैं:

"*स्त्रियों को मुक्त करने वाले सारे कानूनों के बावजूद, वह अभी भी एक घरेलू दासी है,* क्योंकि निम्न घरेलू कार्य उसे कुचल देता है, उसका गला घोंट देता है, उसे बेकार बना देता है और उसे हीन बनाता है, उसे किचन और नर्सरी से बांध देता है, और वह बर्बर रूप में अनुत्पादक, निम्न, थकाकर चूर कर देने वाला, बेकार बना देने वाले और कुचल देने वाले ऊबाऊ कार्यों में अपने श्रम को बरबाद करती है। *स्त्रियों की असली मुक्ति, असली कम्युनिज्म, वहां और तब शुरू होगा जब एक निर्णायक संघर्ष (सर्वहारा वर्ग के राज्यसत्ता के नेतृत्व में) शुरू होगा, इस निम्न घर प्रबंधन के काम के खिलाफ, या तब जबकि बड़े पैमाने की सामाजवादी अर्थव्यवस्था में बड़े पैमाने पर रूपान्तरण शुरू हो जायेगा।* (लेनिन, *दि ग्रेट बिगेनिंग,* 1919, जोर हमारा)

और अन्त में देखते हैं कि 1920 के अन्तरराष्ट्रीय स्त्री दिवस पर लेनिन ने क्या कहा था:

"कामगार औरतों के आन्दोलन का प्रमुख कार्यभार है केवल औपचारिक समानता के लिए नहीं बल्कि आर्थिक और सामाजिक समानता के लिए लड़ना। मुख्य बात है औरतों को सामाजिक रूप से उत्पादक श्रम में भागीदार बनाना, उन्हें "घरेलू दासता" से मुक्त करना ताकि उन्हें किचन और नर्सरी के पुराने ऊबाऊ कार्य के बेकार बना देने वाली और अपमानजनक अधीनता से मुक्त किया जा सके।

"*यह संघर्ष काफी लंबा होगा और यह सामाजिक तकनीक और नैतिकता दोनों के लिए आमूलगामी पुनर्निर्माण की मांग करता है। लेकिन यह कम्युनिज्म की पूर्ण विजय के साथ ही समाप्त होगा।*" (लेनिन, *ऑन इण्टरनेशनल वर्किंग विमेंस डे,* 1920)

लेनिन ने ठीक यही बात 1921 के अन्तरराष्ट्रीय स्त्री दिवस पर दुहरायी, जिसके लिए आप 1921 का लेनिन का भाषण पढ़ सकते हैं। हमने लेनिन के विचारों को विस्तार से इसलिए रखा कि पाठक श्यामसुन्दर की चार सौ बीसी और बौद्धिक बौनेपन को समझ सकें। उन्होंने पर्याप्त समझदारी दिखाने की कोशिश की है, ताकि अपनी मूर्खतापूर्ण बातों को सिद्ध कर सकें, लेकिन जैसा कि कहावत है, 'मूस मुटइहैं लोढ़ा होइहैं', यानी चूहा मोटा होगा तो लोढ़े जितना हो जाएगा! इन उद्धरणों के अलावा अगर आप श्यामसुन्दर के उद्धरण की पृष्ठभूमि में जाएं और लेनिन किस सन्दर्भ में "औरतों की अधिकारहीनता" की बात कर रहे हैं, तो समझ जाएंगे कि लेनिन का अर्थ वहां औरतों को समान राजनीतिक अधिकार देने से है, जैसे कि मताधिकार। इसीलिए लेनिन इसे क्लासिकीय तौर पर बुर्जुआ जनवादी कार्यभार कहते हैं, जिसे कि बुर्जुआ वर्ग वास्तव में कभी पूरा नहीं कर सकता। *इन उद्धरणों से एक और बात स्पष्ट है कि लेनिन का मानना है कि पितृसत्ता और स्त्रियों के दमन का पूर्ण अंत वर्गों के खात्मे, कम्युनिज्म की पूर्ण विजय के साथ ही हो सकता है।* क्यों? क्योंकि पितृसत्ता वर्गों के साथ ही अस्तित्व में आयी थी और वर्गों के समाप्त होने के साथ ही यह समाप्त होगी। और इसीलिए लेनिन इसे बुर्जुआ जनवादी कार्यभार नहीं मानते और कोई भी

संजीदा मार्क्सवादी नहीं मानता है। पूंजीवाद और वर्ग समाज के दायरे के भीतर पितृसत्ता और स्त्रियों की अधीनता पूर्णत: समाप्त हो ही नहीं सकती। *इसका दूसरा निहितार्थ यह है कि पितृसत्ता महज़ सामन्ती या मध्ययुगीन अवशेष नहीं है क्योंकि जैसा कि एंगेल्स ने दिखलाया था, पितृसत्ता निजी सम्पत्ति के अस्तित्व में आने के साथ अस्तित्व में आयी थी, और इसीलिए यह निजी सम्पत्ति के खत्म होने के साथ ही खत्म होगी, जैसा कि उपरोक्त उद्धरण में लेनिन कह रहे हैं; इसलिए पितृसत्ता, बदलते रूपों के साथ अलग-अलग उत्पादन पद्धतियों के साथ तन्तुबद्धीकृत (*articulate*) होती है, दूसरे शब्दों में, हर नयी उत्पादन पद्धति जो कि निजी सम्पत्ति पर आधारित है, इसे अपने अनुसार सहयोजित या समायोजित करती है, या इसका उत्सादन होता है।* लेनिन के विचार इस विषय में स्पष्ट हैं, इसलिए श्यामसुन्दर को अपनी बौद्धिक चार सौ बीसी में लेनिन को नहीं घसीटना चाहिए था। न्यूनतम कम्युनिस्ट नैतिकता का इतना तकाज़ा तो बनता ही है। इसलिए बेहतर होगा कि श्यामसुन्दर इण्टरनेट से उद्धरण ढूंढकर अपनी अज्ञानतापूर्ण बातों को सिद्ध करने का प्रयास करने की बजाय, लेनिन का ठीक से आद्योपान्त अध्ययन करें। कॉमरेड, थोड़ा पढ़ाई किया कीजिये।

इस उद्धरण के अन्त में श्यामसुन्दर ने अपनी पुरानी मूर्खतापूर्ण बात को फिर से दुहराते हुए पितृसत्ता या जाति व्यवस्था को सामन्तवाद या पूंजीवाद के समान एक उत्पादन पद्धति के तौर पर देखा है, जिस मूर्खता का खण्डन हम ऊपर कर चुके हैं। इसके आगे श्यामसुन्दर जाति व्यवस्था को सामन्ती उत्पादन सम्बन्ध का समानार्थी मानते हुए वहीं पुराना बेवकूफी भरा तर्क देते हैं कि पूंजीवादी सामन्ती व्यवस्था की बात नहीं की जा सकती, क्योंकि पूंजीवाद में सामन्ती व्यवस्था का उत्सादन नहीं हो सकता और इसीलिए पूंजीवादी जाति व्यवस्था की बात नहीं की जा सकती। इस बेवकूफी का भी हम ऊपर खण्डन कर चुके हैं। अपने बचकानेपन और बौद्धिक दरिद्रता को नये सीमान्त तक ले जाते हुए श्यामसुन्दर अन्धविश्वासों की तुलना जाति व्यवस्था से करते हैं! और फिर पूछते हैं कि क्या अन्धविश्वासों के पूंजीवाद द्वारा उत्सादन की बात करना हास्यास्पद नहीं होगा, बिना एक पल को भी यह समझे कि वह जो तुलना कर रहे हैं वास्तव में वह बचकानी और हास्यास्पद है।

(5) निषेध का निषेध के नियम के विषय में श्यामसुन्दर के विचित्र विचार

अब निषेध का निषेध के बारे में श्यामसुन्दर के विचारों पर थोड़ा ग़ौर करते हैं। आपके समक्ष कोई चौंकाने वाली बात नहीं होने वाली है, ये विचार भी उतने ही अज्ञानतापूर्ण और मूर्खतापूर्ण हैं, जितने कि श्यामसुन्दर के वे विचार जिन पर हम अब तक ग़ौर कर चुके हैं। आइये पहले इस मूर्खता को उसके मौलिक दिव्य स्वर में सुन लेते हैं:

"यहां पर हेगेलीय उत्सादन की अवधारणा पर *एक और* पहलू से भी विचार करना प्रासंगिक होगा और वह पहलू है द्वन्द्ववाद का निषेध के निषेध का नियम। *जिसके द्वारा भी* एंगेल्स ने उर्ध्वपातन (sublation) का घटित होना दिखाया है। जैसाकि ऊपर चर्चा में आया कि 'उत्सादन' एक निम्न स्तर की परिघटना का उच्च (संश्लिष्ट) स्तर की परिघटना बन जाता होता है, जिसमें पूर्ववर्ती विकास की अन्तर्वस्तु संसाधित रूप में उपस्थित रहती है', ठीक इसी प्रकार एंगेल्स ने अपनी रचना *ड्यूहरिंग मत-खण्डन* के अध्याय 13 के परिशिष्ट में निषेध का निषेध नियम बारे लिखा है, "...इस निषेध का निषेध इस प्रकार होता है कि पुराने का उच्चतर स्तर पर पुनरुत्पादन होता है..." (पृष्ठ 548)...लेकिन यहां कार्ल मार्क्स की एक रचना से इस प्रक्रिया को स्पष्ट किया जाना ज्यादा उपयुक्त होगा। कार्ल मार्क्स ने अपनी रचना *दर्शन की दरिद्रता* (अंग्रेज़ी संस्करण) के पृष्ठ 131 पर सामन्ती इजारेदारी को थीसिस के रूप में लिया और उसके निषेध यानी प्रतियोगिता को एंटीथीसिस कहा तथा पुन: इस प्रतियोगिता के निषेध को सिंथेसिस कहा जो कि विकास के प्रक्रिया में निषेध का निषेध के जरिये पूंजीवादी इजारेदारी के रूप में अस्तित्व में आया। *अर्थात पूंजीवादी इजारेदारी निम्नस्तरीय सामन्ती इजारेदारी की परिघटना से उच्चतर स्तर की संश्लिष्ट परिघटना के रूप में ही सामने आयी है।* और यह विकास की वस्तुनिष्ठ प्रक्रिया का फल है। लेकिन जातिवादी व्यवस्था पर विकास की यह वस्तुनिष्ठ प्रक्रिया लागू नहीं होती कि जाति व्यवस्था भी निषेध के निषेध द्वारा उच्चतर स्तर पर पुनरुत्पादित हुई हो। अत: वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था में अतीत की जातिवादी व्यवस्था के अवशेष ही बचे हैं। इन अवशेषों को हेगेलीय भाषा में न तो उत्सादन की संज्ञा दी जा सकती है और न ही निषेध का

निषेध के जरिये उर्ध्वपातन की। *और अतीत की जाति-व्यवस्था का निषेध हुआ ही नहीं* तो फिर वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था को उच्च स्तर पर पुनरुत्पादित जाति-व्यवस्था अथवा पूंजीवादी जाति व्यवस्था नहीं कहा जा सकता है जैसा कि 'बिगुल' वालों का दावा है।" (ज़ोर हमारा)

बात श्यामसुन्दर की हो तो ऐसा होना तो नहीं चाहिए, मगर फिर भी हम अचम्भित हैं! कोई व्यक्ति एक इतने छोटे-से उद्धरण में इतनी सारी मूर्खताएं एक साथ कैसे कर सकता है? हालांकि यह काफी ऊबाऊ काम है, लेकिन हम फिर भी इन सभी मूर्खताओं का सिलसिलेवार खण्डन करने के लिए बाध्य हैं। मार्क्स ने कहा था कि किसी गलती को अखण्डित छोड़ देना बौद्धिक बेईमानी है; यहां हम इसमें जोड़ सकते हैं कि किसी कूपमण्डूकतापूर्ण ग़लती को अखण्डित छोड़ देना बौद्धिक पाप है! इसलिए हम मजबूर हैं।

पहली बात जो ग़ौरतलब है वह यह है कि श्यामसुन्दर को निषेध का निषेध का नियम समझ में ही नहीं आया है। आइये देखते हैं कैसे। पहली बात तो यह है कि "उत्सादन की अवधारणा पर ***एक और पहलू*** से भी विचार करना" असम्भव है, क्योंकि उत्सादन पर निषेध का निषेध के पहलू से ***ही*** विचार किया जा सकता है; बल्कि कहना चाहिए कि निषेध का निषेध के नियम को समझने के लिए उत्सादन की अवधारणा अनिवार्य और अपरिहार्य है; यह भी कहा जा सकता है कि निषेध का निषेध के नियम का सारतत्व उत्सादन ही है। इसलिए एंगेल्स ने "इसके (निषेध का निषेध) के जरिये ***भी*** उत्सादन का घटित होना नहीं दिखलाया है; वस्तुत: निषेध का निषेध के नियम के व्यावहारिक रूप उत्सादन के जरिये पहला निषेध और फिर दूसरा निषेध के जरिये ***ही*** प्रदर्शित किये जा सकते हैं। स्पष्ट है कि श्यामसुन्दर निषेध का निषेध के नियम और उत्सादन को दो अलग चीजें समझते हैं, जबकि एक दूसरे की सारवस्तु है। दूसरी बात, श्यामसुन्दर यह भी नहीं समझ पाए हैं कि "पुराने का उच्चतर स्तर पर पुनरुत्पादन" का क्या अर्थ है। उच्चतर स्तर पर पुनरुत्पादन का अर्थ केवल प्रतीतिगत 'पुनरुत्पादन' होता है। इसीलिए लेनिन ने निषेध का निषेध के नियम के बारे में चर्चा करते हुए लिखा है कि इसका अर्थ है "निम्न स्तर के कुछ निश्चित गुणों का उच्चतर स्तर पर दुहराव...और पुराने की ***प्रतीतिगत*** वापसी।" (लेनिन, दर्शन-सम्बन्धी नोटबुक्स, कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-38, ज़ोर हमारा) एक अन्य स्थान पर लेनिन इसे और स्पष्ट करते हैं, "एक परिवर्तन जो, ***मानो,*** गुजर चुके चरणों को दुहराता है, लेकिन उन्हें अलग रूप में दुहराता है, एक उच्चतर आधार पर...एक विकास प्रक्रिया जो कि कुण्डलाकार पथ पर चलती है, न कि सीधी रेखा में।" *इसलिए उच्चतर स्तर पर पुनरुत्पादन का अर्थ होता है, नया पुराने का उत्सादन या* determinate negation *करता है, यानी, जैसाकि लेनिन ने लिखा है, पुराने में जो विकास की नयी अवस्था के अनुसार जीवक्षम (*viable*) है, नया उसे सहयोजित करता है और उसे अपने अनुसार रूपान्तरित करता है। इसलिए नये स्तर पर पिछले स्तर के शुद्ध अवशेष हूबहू नहीं प्रकट होते, बल्कि वे नये के साथ तन्तुबद्धीकृत (*articulate*) होकर प्रकट होते हैं। शुद्ध अवशेषों की उपस्थिति केवल* abstract negation *का परिणाम हो सकता है,* determinate negation *का नहीं।*

अब श्यामसुन्दर द्वारा मार्क्स के 'दर्शन की दरिद्रता' से लिये गये उद्धरण की अनर्थकारी व्याख्या पर आते हैं। श्यामसुन्दर के बारे में वह कहा जा सकता है, जो एंगेल्स ने ड्यूहरिंग के बारे में कहा था (यहां भी हम निषेध का निषेध देख सकते हैं! कुण्डलाकार पथ से विकास! लेकिन श्यामसुन्दर ड्यूहरिंग नहीं हैं, बल्कि उनकी एक निहायत बौनी, अनगढ़ और बेढंगी अनुकृति हैं; जैसा कि मार्क्स ने बताया था, इतिहास अपने आपको दुहराता है; पहली बार त्रासदी के रूप में और दूसरी बार प्रहसन के रूप में)। एंगेल्स लिखते हैं:

"एक व्यक्ति जो अपवादस्वरूप भी सही तरीके से उद्धृत करने में पूरी तरह से अक्षम है, वह उन दूसरे लोगों के "चीनी पाण्डित्य" पर नैतिक रूप से रुष्ट हो सकता है, जो सही तरीके से उद्धृत करते हैं, लेकिन ठीक ऐसा करके वह उन विभिन्न लेखकों के विचारों की पूर्णता के विषय में किसी भी अन्तर्दृष्टि के अपने नितान्त अभाव को छिपाने का एक अपर्याप्त किस्म का प्रयास करता है।" (एंगेल्स, *ड्यूहरिंग मत-खण्डन*)

यह बात श्यामसुन्दर पर शब्दश: लागू होती है। वे हमारे उत्सादन की अवधारणा के प्रयोग को पाण्डित्य समझकर उससे नाराज़ हो जाते हैं और फिर इधर-उधर से बिना समझे कुछ भी उद्धरण पेश करके अपनी मूर्खता को छिपाने की कोशिश करते हैं। इसलिए मार्क्स के उस पूरे उद्धरण को देखते हैं, जिससे श्यामसुन्दर ने बिना उद्धृत किये अल्लम-गल्लम तरीके से व्याख्यायित किया है:

"प्रूधों और किसी चीज़ की नहीं, बस प्रतिस्पर्द्धा द्वारा पैदा हुए एकाधिकार की बात करते हैं। लेकिन हम सभी जानते हैं कि प्रतिस्पर्द्धा सामन्ती एकाधिकार से पैदा हुई थी। इसलिए प्रतिस्पर्द्धा मूलत: एकाधिकार का विपरीत थी, न कि एकाधिकार प्रतिस्पर्द्धा का। इसलिए आधुनिक एकाधिकार एक सामान्य एंटीथीसिस नहीं है, बल्कि यह एक सच्ची सिंथेसिस है।

"थीसिस: सामन्ती एकाधिकार, प्रतिस्पर्द्धा से पहले।

"एंटीथीसिस: प्रतिस्पर्द्धा।

"सिंथेसिस: आधुनिक एकाधिकार, जोकि, जिस हद तक वह प्रतिस्पर्द्धा की व्यवस्था को प्रदर्शित करती है, सामन्ती एकाधिकार का निषेध है, और जिस हद तक वह एकाधिकार है, वह प्रतिस्पर्द्धा का निषेध करती है।

"इस प्रकार आधुनिक एकाधिकार, बुर्जुआ एकाधिकार, संश्लिष्ट एकाधिकार है, निषेध का निषेध, विपरीत तत्वों की एकता। यह शुद्ध, सामान्य, तार्किक रूप में एकाधिकार है। एम. प्रूधों अपने ही दर्शन के साथ अन्तरविरोध में है, जब वह बुर्जुआ एकाधिकार को भोंड़े, आदिम, अन्तरविरोधी, अनियमित रूप में एकाधिकार में बदल देते हैं। ऐसा लगता है कि एम. रोसी, जिन्हें एकाधिकार के विषय में एम. प्रूधों कई बार उद्धृत करते हैं, की बुर्जुआ एकाधिकार के संश्लिष्ट चरित्र के बारे में कहीं बेहतर समझदारी है। अपने *कोर्स डि इकोनोमी पोलीतीक* में वह कृत्रिम एकाधिकार और स्वाभाविक एकाधिकार में अन्तर करते हैं। वह कहते हैं कि सामन्ती एकाधिकार कृत्रिम, यानी कि मनमाने किस्म का है; बुर्जुआ एकाधिकार स्वाभाविक है, यानी, तार्किक है।एम. प्रूधों दलील देते हैं कि एकाधिकार एक अच्छी चीज़ है, क्योंकि यह एक आर्थिक श्रेणी है, "मानवता के अवैयक्तिक तर्क से" पैदा होती है। प्रतिस्पर्द्धा भी अच्छी चीज़ है क्योंकि यह भी एक आर्थिक श्रेणी है।लेकिन जो चीज़ अच्छी नहीं है वह है *एकाधिकार* और *प्रतिस्पर्द्धा* का यथार्थ। और जो और भी बुरा है वह यह कि *प्रतिस्पर्द्धा* और *एकाधिकार* एक दूसरे को निगल जाते हैं। क्या किया जाना चाहिए? इन दो दिव्य विचारों के संश्लेषण की तलाश करें, इन्हें ईश्वर के अभ्यंतर से खींच लाएं, जहां यह न जाने कब से पड़े हुए हैं।" (मार्क्स, *दर्शन की दरिद्रता,* ज़ोर हमारा)

जैसा कि आप देख सकते हैं कि यहां मार्क्स प्रतिस्पर्द्धा और एकाधिकार की बात कर रहे हैं और दिखला रहे हैं कि किस प्रकार एक चरण से दूसरे चरण में पहले प्रतिस्पर्द्धा एकाधिकार का निषेध करती है, और फिर वह स्वयं अपना निषेध करके एक उच्चतर स्तर के संश्लिष्ट एकाधिकार में तब्दील हो जाती है। श्यामसुन्दर समझते हैं कि "पूंजीवादी इजारेदारी निम्न स्तरीय सामन्ती इजारेदारी की परिघटना से उच्च स्तर की संश्लिष्ट परिघटना के रूप में सामने आयी।" सच यह है कि सामन्ती दौर की इजारेदारी पूंजीवादी दौर में एक उच्च स्तर की संश्लिष्ट परिघटना के रूप में सामने आयी न कि सामन्ती इजारेदारी ही उच्चस्तर की संश्लिष्ट परिघटना बनकर पूंजीवादी इजारेदारी में तब्दील हो गयी। इन दोनों में एक स्पष्ट अन्तर है, जो कि श्यामसुन्दर के समझ में नहीं आया क्योंकि वे निषेध व उत्सादन के पहलू को समझ ही नहीं पाए हैं। *मुक्त व्यापार पूंजीवाद की खुली प्रतियोगिता एक* determinate negation *थी, क्योंकि इसने सामन्ती इजारेदारी को समाप्त किया और अपने निषेध की ज़मीन तैयार की; यह ज़मीन वह ज़मीन थी जिसमें मार्क्स के शब्दों में, एक पूंजीपति कई पूंजीपतियों को मारकर पूंजी के संकेन्द्रण व केन्द्रीकरण को अंजाम देता है, जिसके फलस्वरूप पूंजीवादी इजारेदारी पैदा होती है।* यह इजारेदारी का एक नये स्तर पर *प्रतीतिगत दुहराव* है, न कि सामन्ती इजारेदारी ही संश्लिष्ट रूप ग्रहण करके पूंजीवादी इजारेदारी बन गयी। इसीलिए मार्क्स ने उपरोक्त उद्धरण में आगे 'इजारेदारी' और 'प्रतिस्पर्द्धा' की श्रेणियों का इस्तेमाल किया है, न कि 'सामन्ती इजारेदारी' और 'पूंजीवादी इजारेदारी' की श्रेणी का। ठीक उसी प्रकार, मार्क्स ने जब सम्पत्तिहीनता,

व्यक्तिगत निजी सम्पत्ति, पूंजीवादी निजी सम्पत्ति और फिर समाजवादी सम्पत्ति (जिसका अर्थ होता है उत्पादन के समस्त साधनों और जमीन की साझा सम्पत्ति और उपभोग की सामग्री की व्यक्तिगत सम्पत्ति) की पूरी यात्रा को निषेध का निषेध के नियम से समझाया तो भी वह व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूपों और आदिम समाज से पूंजीवाद और फिर समाजवाद तक उसके विकास की प्रक्रिया को समझा रहे हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि आदिम कम्युनिज्म संश्लिष्ट रूप ग्रहण करके कम्युनिज्म में तब्दील हो जाता है। ऐसा सोचना उत्सादन और निषेध का निषेध की अवधारणा को समझने की श्यामसुन्दर की पूर्ण असफलता को प्रदर्शित करता है। स्पष्ट करने के लिए हम एंगेल्स का एक और उद्धरण पेश करके आगे बढ़ते हैं:

"सभी सभ्य कौमों के यहां शुरू में भूमि पर सामूहिक स्वामित्व था। जितनी कौमें एक खास आदिम अवस्था के बाहर निकल आयी हैं, उन सबके यहां यह सामूहिक स्वामित्व खेती के विकास के दौरान में उत्पादन के लिए एक बंधन बन जाता है। वह मिटा दिया जाता है; उसका निषेध हो जाता है, और कुछ मध्यवर्ती अवस्थाओं के एक अपेक्षाकृत लम्बे या छोटे क्रम के बीतने के बाद वह निजी स्वामित्व में रूपान्तरित हो जाता है। किन्तु, जब खुद भूमि के निजी स्वामित्व के फलस्वरूप खेती का विकास एक और भी ऊंची अवस्था में पहुंचता है, तो अब की बार उल्टी बात होती है और निजी स्वामित्व उत्पादन के लिए बंधन बन जाता है। आजकल छोटे तथा बड़े दोनों प्रकार का भू-स्वामित्व उत्पादन के लिए बंधन बना हुआ है। तब लाज़िमी तौर पर यह मांग उठती है कि इस निजी स्वामित्व का भी निषेध होना चाहिए और एक बार फिर उसे सामूहिक स्वामित्व में रूपान्तरित कर देना चाहिए। *लेकिन इस मांग का अर्थ यह नहीं है कि आदिम ढंग के सामूहिक स्वामित्व की पुन:स्थापना कर दी जाये; बल्कि इसका अर्थ यह है कि सामूहिक स्वामित्व के एक कहीं अधिक ऊंचे तथा विकसित रूप की स्थापना की जाये, जो उत्पादन के रास्ते में रोड़े का काम नहीं करेगा, बल्कि जो इसके विपरीत पहली बार उत्पादन को तमाम बंधनों से मुक्त कर देगा...*" (एंगेल्स, *ड्यूहरिंग मत-खण्डन,* ज़ोर हमारा*)*

जैसा कि आप देख सकते हैं, एंगेल्स सामूहिक स्वामित्व के एक नये स्तर पर प्रतीतिगत दुहराव की बात कर रहे हैं, न कि यह कह रहे हैं कि आदिम समाज ही संश्लिष्ट रूप में कम्युनिस्ट समाज बन जाता है।

अन्त में, अपने उपरोक्त उद्धरण में श्यामसुन्दर दुहराते हैं कि 'अतीत की जाति व्यवस्था' का कोई निषेध ही नहीं हुआ। यानी, वह ज्यों की त्यों मौजूद है, या फिर उसके जो भी तत्व व आयाम समाप्त नहीं हुए, वे ज्यों के त्यों मौजूद हैं, शुद्ध अवशेष के रूप में। आइये इस विचार पर थोड़ा विस्तार से चर्चा कर ली जाय।

(6) श्यामसुन्दर का 'ऐतिहासिक' दावा: 'जाति व्यवस्था के परिवर्तन पर 'निषेध का निषेध' का नियम नहीं लागू होता (मेरा वाला नियम लागू होता है)'

उत्सादन की अपनी इस "समझदारी" से लैस होकर आगे श्यामसुन्दर कहते हैं कि जातिवादी व्यवस्था पर विकास की यह वस्तुनिष्ठ प्रक्रिया (यानी निषेध का निषेध) लागू नहीं होती है। अब यहां कई बातें स्पष्ट किये जाने की ज़रूरत है।

*पहली बात, क्या 3000 हज़ार वर्ष पहले अस्तित्व में आयी वर्ण-जाति व्यवस्था आज तक अपरिवर्तनशील रही है या उसमें कुछ परिवर्तन आये हैं? यदि श्यामसुन्दर मानते हैं कि 3000 वर्षों में जाति व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं आया है, तो धन्य हैं श्यामसुन्दर! अगर वह मानते हैं कि प्रकृति और समाज में हर परिघटना के समान जाति व्यवस्था भी अपने उद्भव से लेकर आज तक विकासमान रही है, तो उसका विकास किस नियम से संचालित है?*एंगेल्स ने *ड्यूहरिंग मत-खण्डन* में बार-बार स्पष्ट किया है कि हरेक परिघटना के जन्म और उत्तरोत्तर विकास से लेकर अन्त तक पर निषेध का निषेध का नियम लागू होता है और यह विकास का आम नियम है। अब या तो श्यामसुन्दर मानते हैं कि जाति व्यवस्था पर एक अपवादस्वरूप विशेष नियम लागू होता है, जिसे माओ ने इस रूप में अभिव्यक्त किया है: 'ताओ कभी नहीं बदलता, क्योंकि व्योम भी कभी नहीं बदलता'; इस तर्ज़ पर श्यामसुन्दर का *मोट्टो* यह बना: 'जाति व्यवस्था कभी नहीं बदलती, क्योंकि श्यामसुन्दरीय मूर्खता भी कभी नहीं बदलती।' लेकिन

हमें छह वर्षों में श्यामसुन्दर से हुई दो बहसों के आधार पर यह *मोट्टो* भी ग़लत लगता है; हमें लगता है कि श्यामसुन्दरीय मूर्खता बदलती है; इस रूप में, कि वह बढ़ती जाती है। *इसलिए वह हमसे मांग करते हैं कि हम निषेध का निषेध के नियम को जाति व्यवस्था के सन्दर्भ में प्रमाणित करें, जबकि सच यह है कि हमें जाति व्यवस्था के सन्दर्भ में इस नियम को प्रमाणित करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि जाति व्यवस्था के उद्भव और विकास का पथ ऐतिहासिक और आनुभविक तौर पर, किसी भी अन्य परिघटना के समान, इसी नियम का अनुसरण करते हुए आगे बढ़ा है।* ड्यूहरिंग ने मार्क्स से ऐसी ही मांग की थी। आइये देखें एंगेल्स इसके जवाब में क्या लिखते हैं:

"अतएव इस प्रक्रिया को निषेध का निषेध कहकर मार्क्स यह प्रमाणित नहीं करना चाहते कि यह प्रक्रिया ऐतिहासिक दृष्टि से आवश्यक थी। बात इसकी उल्टी है। वह तो इतिहास के आधार पर यह प्रमाणित करते हैं कि वस्तुत: इस प्रकार की प्रक्रिया आंशिक रूप में सम्पन्न हो चुकी है, और आंशिक रूप में भविष्य में सम्पन्न होने वाली है और यह प्रमाणित करने के बाद ही वह उसकी विशेषताओं का उल्लेख करते हुए कहते हैं, कि यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जो एक निश्चित द्वन्द्वात्मक नियम के अनुसार विकसित होती है। बस इतनी सी बात है...

"*श्री ड्यूहरिंग को द्वन्द्ववाद के स्वरूप की तनिक भी समझ नहीं है, यह बात इस तथ्य से स्पष्ट हो जाती है कि वह उसे महज़ प्रमाण पैदा करने का अस्त्र समझते हैं...*

"परन्तु तब वह भयानक निषेध का निषेध क्या है, जिसने श्री ड्यूहरिंग के जीवन को इतना कटु बना दिया है, और जो उनकी दृष्टि में अक्षम्य पाप की उसी प्रकार भूमिका अदा करता है, जिस प्रकार की भूमिका ईसाई धर्म में पवित्र आत्मा के विरुद्ध किया जाने वाला पाप अदा करता है? *वास्तव में यह एक बहुत ही सरल सी प्रक्रिया है, जो हर स्थान पर और प्रतिदिन होती है। यदि उस पर पड़े हुए रहस्य के उस आवरण को हटा दिया जाये, जिसके द्वारा पुराने भाववादी दर्शन ने उसे ढांक रखा था और जिसको उसपर डाले रखना श्री ड्यूहरिंग जैसी योग्यता रखने वाले असहाय अधिभूतवादियों के हित में है, तो कोई भी बच्चा उसे समझ सकता है...*

"*यह प्रकृति, इतिहास तथा चिन्तन के विकास का एक अत्यन्त सामान्य -- और इस कारण अत्यन्त प्रभावशाली और महत्वपूर्ण -- नियम है। यह एक ऐसा नियम है, जो, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, जंतु जगत तथा वनस्पति जगत पर, भूगर्भ विज्ञान पर, गणित पर, इतिहास पर और दर्शनशास्त्र पर लागू है। यह एक ऐसा नियम है, जिसका यहां तक कि श्री ड्यूहरिंग को भी अपने तमाम जिद्दी विरोध के बावजूद अनजाने में और अपने विशिष्ट ढंग से अनुसरण करना पड़ता है।*" (एंगेल्स, *ड्यूहरिंग मत-खण्डन,* ज़ोर हमारा)

इस पूरे उद्धरण की चर राशियों को बदलते हुए श्यामसुन्दर के सन्दर्भ में फिर से लिखा जा सकता है और मैं काफी कोशिश के बाद इस ललचा देने वाले उपक्रम से बच पा रहा हूं। लेकिन इतना फिर भी कहता हूं कि श्यामसुन्दर भी "अपने तमाम जिद्दी विरोध के बावजूद", "अनजाने में" और "अपने विशिष्ट ढंग से" निषेध का निषेध का अनुसरण करते हुए कुण्डलाकार विकास कर रहे हैं; किस रूप में? उनकी मूर्खता कुण्डलाकार पथ का अनुसरण करते हुए बढ़ती जा रही है। आप इसे डाउनवर्ड स्पाइरल या अपवर्ड स्पाइरल दोनों ही कह सकते हैं, इस आधार पर कि आप स्वयं कहां खड़ हैं! श्यामसुन्दर इस पर भी मार्क्स के शब्दों में "नैतिक क्रुद्धता" से भर जाते हैं, जो कि एसयूसीआई के 'सेण्टिमेण्टल' वामपंथियों की खासियत है, कि जाति व्यवस्था उनकी बात बिल्कुल नहीं मान रही है और पिछले 3000 वर्षों में बदस्तूर निषेध का निषेध के नियम का पालन करते हुए परिवर्तित होती जा रही है! *श्यामसुन्दर की मानें तो या तो जाति व्यवस्था अपने जन्मकाल से स्थिर है, या वह कुण्डलाकार विकास नहीं कर रही (यानी निषेध का निषेध के नियम के अनुसार परिवर्तित नहीं हो रही) बल्कि एकरेखीय विकास करते हुए खत्म होती जा रही है; दूसरे शब्दों में, हर नयी उत्पादन व्यवस्था शाइलॉक के समान उसका कुछ पाउण्ड मांस काट लेती है और पूंजीवादी व्यवस्था आते-आते अब बस उसके अवशेष बचे हैं!*जिस भी व्यक्ति ने जाति व्यवस्था के उद्भव और उत्तरोत्तर विकास के विषय में वास्तव में कुछ अध्ययन किया है, वह समझ सकता है कि यह कितने अनर्थकारी रूप से अज्ञानतापूर्ण और मूर्खतापूर्ण समझदारी है। बहुत से पाठक जो इस बहस को पढ़ेंगे, वे "मूर्खता" जैसे शब्दों का

इस्तेमाल करने के लिए हमसे रुष्ट हो सकते हैं, लेकिन वे ही बताएं कि श्यामसुन्दर के ऐसे कारनामों को और क्या नाम दें?

लुब्बेलुबाब यह कि श्यामसुन्दर उत्सादन व निषेध का निषेध की अवधारणा के बारे में अनर्थकारी अज्ञान और नासमझी के शिकार हैं। अब उत्सादन और निषेध का निषेध के विषय में पेश श्यामसुन्दरीय मूर्खता की पड़ताल के बाद उनके अगले बौद्धिक दीवालियेपन की ओर आगे बढ़ते हैं: आर्थिक आधार और उत्पादन सम्बन्धों के विषय में।

V.उत्पादन सम्बन्धों के कुल योग, आर्थिक आधार, के बारे में श्यामसुन्दर का मूढ़ और व्यर्थ बौद्धिक चर्वण

श्यामसुन्दर ने आर्थिक आधार की अवधारणा के सम्बन्ध में अपने उपशीर्षक में जो बातें लिखी हैं, उनसे उन्होंने एक बार फिर एंगेल्स के ऊपर उद्धृत उद्धरण को सही साबित किया है, कि *कुछ लोग उन लेखकों के विचार भी नहीं समझते हैं, जिन्हें वे उद्धृत करते रहते हैं।* यहां उन्होंने दिखलाया है कि उन्होंने न तो आर्थिक आधार की मार्क्सवादी अवधारणा को समझा है और न ही हमारी अवस्थिति को। आइये देखते हैं कि यह उपलब्धि उन्होंने कैसे हासिल की है।

श्यामसुन्दर का दावा है कि उत्पादन सम्बन्धों के कुल योग के तौर पर हमने आर्थिक आधार की अवधारणा को नहीं समझा है। इसका कारण यह है कि हम सामन्ती उत्पादन सम्बन्ध जाति व्यवस्था को पूंजीवादी आधार का अंग मानते हैं, जबकि उत्पादन सम्बन्धों के योग के तौर पर आर्थिक आधार की अवधारणा यह है कि उसमें केवल एक प्रकार के ही उत्पादन सम्बन्ध होते हैं। अन्य प्रकार के उत्पादन सम्बन्ध जो कि पिछले युगों से विरासत के तौर पर मिले होते हैं, *वे आर्थिक आधार का अंग नहीं बल्कि केवल अवशेष होते हैं!* यानी, किसी समाज के आर्थिक आधार में केवल एक प्रकार के ही उत्पादन सम्बन्ध होते हैं, जो कि उत्पादन के उस निश्चित चरण से निर्धारित होते हैं, जिसमें कि वह समाज अस्तित्व में आया है। *अपने समर्थन में श्यामसुन्दर ने मार्क्स का एक उद्धरण पेश किया है, जिसे वह एंगेल्स का उद्धरण समझते हैं। विचित्र बात है कि मार्क्स का यह बेहद प्रसिद्ध उदाहरण, जिसे असंख्य बार मार्क्सवादियों से लेकर अकादमिकों ने उद्धृत किया है, उसे श्यामसुन्दर एंगेल्स का उद्धरण समझते हैं। मार्क्स की प्रसिद्ध रचना 'ए कॉण्ट्रीब्यूशन टू दि क्रिटीक ऑफ पोलिटिकल इकॉनमी' को श्यामसुन्दर एंगेल्स का समझते हैं। मार्क्सवाद के विषय में श्यामसुन्दर की वज्र-मूर्खता का अन्दाजा कोई मार्क्सवाद का प्रारंभिक छात्र भी लगा सकता है।* इस उद्धरण की ऐसी मूर्खतापूर्ण व्याख्या भी पहली बार किसी ने की होगी, जैसी कि श्यामसुन्दर ने की है। आइये इस उद्धरण पर ग़ौर करते हैं:

"...अपने जीवन के सामाजिक उत्पादन में मनुष्य ऐसे निश्चित सम्बन्धों में बंधते हैं जो अपरिहार्य एवं उनकी इच्छा से स्वतंत्र होते हैं। उत्पादन के ये सम्बन्ध उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास की एक निश्चित मंजिल के अनुरूप होते हैं। इन उत्पादन सम्बन्धों का कुल योग ही समाज का आर्थिक ढांचा है -- वह असली बुनियाद है, जिस पर कानून और राजनीति का ऊपरी ढांचा खड़ा हो जाता है और जिसके अनुकूल ही सामाजिक चेतना के निश्चित रूप होते हैं। भौतिक जीवन की उत्पादन प्रणाली जीवन की आम सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक प्रक्रिया को निर्धारित करती है। मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती बल्कि उलटे उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को निर्धारित करता है।"

श्यामसुन्दर का दावा है कि मार्क्स के इस उद्धरण का अर्थ यह है कि 'उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास की एक निश्चित मंजिल' का मतलब है कि इसके अनुसार *केवल एक प्रकार के उत्पादन सम्बन्ध* ही किसी आर्थिक आधार का निर्माण करते हैं। श्यामसुन्दर लिखते हैं:

"अर्थात किसी निश्चित मंजिल की समाज व्यवस्था के आर्थिक ढांचे को निर्मित करने वाले उत्पादन सम्बन्धों के कुल योग में उत्पादन के *वे सम्बन्ध जो उस समाज व्यवस्था की निश्चित मंजिल के अनुरूप नहीं होते, शामिल नहीं होते।*

उदाहरण के तौर पर समाज व्यवस्था की पूंजीवादी मंजिल के उत्पादन सम्बन्धों का कुल योग पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों का ही कुल योग होगा, न कि वह 'कुल योग' जिसमें अतीत की समाज व्यवस्थाओं के उत्पादन सम्बन्धों के अवशेष भी एक अंश या घटक हों।" (ज़ोर हमारा)

यह कठमुल्लावादी कूपमण्डूकता की पराकाष्ठा है। हम आगे मार्क्स व लेनिन के उद्धरणों से श्यामसुन्दर के इस विचित्र सूत्रीकरण की मूढ़ता को अनावृत्त भी करेंगे, लेकिन उससे पहले कुछ चीजें समझ लें। एक सामाजिक संरचना (social formation) और दूसरी सामाजिक संरचना के बीच चीन की दीवार या 'वॉटरटाइट कम्पार्टमेण्टलाइजेशन' नहीं होता है; ऐसी सोच भी उसी के मस्तिष्क में पैदा हो सकती है, जिसे निषेध का निषेध के नियम की रत्ती भर भी समझदारी न हो। सामाजिक संरचना की मार्क्सवादी अवधारणा का अर्थ ही है एक प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों व उत्पादन पद्धति की प्रधानता के साथ कई उत्पादन पद्धतियों का तन्तुबद्धीकरण। इस मार्क्सवादी अवधारणा पर हम आगे आएंगे। उत्पादन पद्धति (mode of production), जो कि उत्पादन सम्बन्धों के चरित्र और उत्पादक शक्तियों के विकास के स्तर की अवधारणाओं को समेकित करती है, एक अमूर्तन (abstraction) है। वास्तव में, हमें ऐतिहासिक तौर पर निर्धारित, सामाजिक पूर्णता (historically determined social totality) मिलती है, न कि शुद्ध व आदर्श रूप में कोई उत्पादन पद्धति। *दूसरी बात यह है कि आर्थिक आधार में हमेशा किसी एक प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों का प्रभुत्व होता है; लेकिन उसमें केवल एक प्रकार के ही उत्पादन सम्बन्ध नहीं होते हैं। प्रभुत्वशाली उत्पादन सम्बन्ध अन्य उत्पादन सम्बन्धों को अपने अधीनस्थ करते हैं, उनको सहयोजित करते हैं और आर्थिक आधार और समूची उत्पादन पद्धति में उसे एक निश्चित स्थान प्रदान करते हैं।* चूंकि श्यामसुन्दर पूछेंगे कि यह कहां लिखा है, तो हम बता दें कि यह मार्क्स की उपरोक्त रचना से ही है, जिसे श्यामसुन्दर अपने राजनीतिक अनपढ़पन के कारण एंगेल्स की रचना समझते हैं। आइये इस उद्धरण पर गौर करते हैं:

"*हर प्रकार के समाज में यह निर्धारक उत्पादन और उसके सम्बन्ध होते हैं, जो अन्य सभी उत्पादनों और उनसे पैदा होने वाले उत्पादन सम्बन्धों को उनका स्थान और उनका महत्व नियत करते हैं।*" (मार्क्स, *क्रिटीक ऑफ पोलिटिकर इकॉनमी,* मार्ता आर्नेकर द्वारा *मोड ऑफ प्रोडक्शन, सोशल फॉर्मेशन एण्ड पोलिटिकल कंजंक्चर* में उद्धृत)

मार्क्स के 'पूंजी' के खण्ड-3 के इस उद्धरण से श्यामसुन्दर की बुनियादी अवधारणाओं को भी समझने की दयनीय अक्षमता और स्पष्ट तौर पर उजागर हो जाती है:

"वह विशिष्ट आर्थिक रूप, जिसमें कि अवैतनिक अतिरिक्त-श्रम प्रत्यक्ष उत्पादकों से निकाला जाता है, शासक और शासित के बीच के सम्बन्ध को निर्धारित करता है...और, बदले में, यह एक निर्धारक तत्व के रूप में इस पर प्रतिक्रिया करता है। लेकिन इसके ऊपर आर्थिक समुदाय का एक समूचा आधार स्थापित होता है, जोकि स्वयं उत्पादन सम्बन्धों से ही पैदा होता है, और साथ ही इसका विशिष्ट राजनीतिक रूप भी पैदा होता है। यह हमेशा उत्पादन की स्थितियों के मालिकों का प्रत्यक्ष उत्पादकों से सीधा सम्बन्ध होता है...जो कि गूढ़तम रहस्य को उजागर करता है, समूची सामाजिक संरचना के छिपे आधार को उजागर करता है... और साथ ही उससे संगति रखने वाले राज्य के आधार को भी। *लेकिन यह उसी आर्थिक आधार को -- जो कि उसकी प्रमुख स्थितियों के दृष्टिकोण से उसी आर्थिक आधार को -- अगणनीय विभिन्न आनुभविक परिस्थितियों, प्राकृतिक वातावरण, नस्ली सम्बन्धों, बाह्य ऐतिहासिक प्रभावों आदि के कारण अपने रूप में अनन्त प्रकार के परिवर्तनों और संस्तरीकरणों को प्रदर्शित करने से नहीं रोकते, जिन्हें केवल आनुभविक तौर पर दी गयी परिस्थितियों के विश्लेषण के आधार पर ही सुनिश्चित किया जा सकता है।*" (कार्ल मार्क्स, *पूंजी, खण्ड-3*)

यदि आप 'फ्रांस में वर्ग संघर्ष, 1848-50' पढ़ें तो आपको मार्क्स के ऐसे ही विचार मिलेंगे, जिसमें वह स्पष्ट कर रहे हैं कि किसी भी समाज के आर्थिक आधार में किसी एक प्रकार के उत्पादन सम्बन्ध प्रभुत्वशाली होते हैं और वे अन्य उत्पादन सम्बन्धों को अपने अधीनस्थ करते हैं, उन्हें निर्धारित करते हैं और उन्हें सहयोजित करते हैं। आप लेनिन की पुस्तिका 'टैक्स इन काइण्ड' का अध्ययन भी कर सकते हैं जिसमें वह लिखते हैं:

"लेकिन इस शब्द "संक्रमण" का क्या अर्थ है? किसी अर्थव्यवस्था पर लागू करने पर क्या इसका यह अर्थ नहीं है कि मौजूदा व्यवस्था में पूंजीवाद और समाजवाद दोनों के तत्व हैं? हर कोई मानेगा कि ऐसा ही है। लेकिन जो भी ऐसा मानते हैं वह यह सोचने की जहमत नहीं उठाते कि आज रूस में जो विभिन्न सामाजिक-आर्थिक संरचनाएं हैं, उन्हें कौन से तत्व निर्मित करते हैं। और यही प्रश्न का सार है।

"आइये उन्हें देखते हैं:

(1) पितृसत्तात्मक, यानी, काफी हद तक प्राकृतिक, किसान खेती

(2) छोटा माल उत्पादन (इसमें उन किसानों की बहुसंख्या शामिल है जो अपना अनाज बेचते हैं)

(3) निजी पूंजीवाद;

(4) राजकीय पूंजीवाद;

(5) समाजवाद।

रूस इतना विशाल और इतना वैविध्यपूर्ण है कि *ये सभी अलग किस्म की सामाजिक-आर्थिक संरचनाएं आपस में मिली हुई हैं*।" (लेनिन, *टैक्स इन काइण्ड)*

अगर श्यामसुन्दर को इसकी व्याख्या करनी हो तो वह कहेंगे कि वह तो केवल समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों के योग को ही आर्थिक आधार मानेंगे, बाकी उत्पादन सम्बन्धों को अवशेष मानेंगे! *लेकिन फिर सवाल यह खड़ा होगा कि ये अवशेषात्मक उत्पादन सम्बन्ध क्या अधिरचना का अंग हैं? यदि नहीं, तो वे कहां हैं? वे न तो आधार में हैं, और न ही अधिरचना में हैं, तो कहां हैं? एक ही जगह: श्यामसुन्दर के वज्र मूढ़ मस्तिष्क में*! वैसे भी जिस व्यक्ति को मार्क्स की प्रसिद्ध रचनाओं और एंगेल्स की प्रसिद्ध रचनाओं के बारे में ही भ्रम हो और वामपंथी आन्दोलन में इतने वर्ष बिताने के बाद भी उसके दिमाग़ में ये गड्डमड्ड हो जाती हों, उसके बारे में और क्या कहा जा सकता है? उपरोक्त उद्धरण केवल चन्द प्रातिनिधिक उदाहरण हैं, जो कि श्यामसुन्दर के मस्तिष्क की स्थिति को अनावृत्त करते हैं कि किस प्रकार वह एक सरल से उद्धरण में निहित सरल सी अवधारणा को समझ पाने में अन्तर्निहित रूप से असमर्थ हैं।

आगे बढ़ने से पहले एक दूसरी बात को समझ लेना भी उपयोगी होगा। श्यामसुन्दर सामाजिक संरचना (social formation) की मार्क्सवादी अवधारणा से पूरी तरह से अनभिज्ञ हैं। हालांकि मार्क्स ने अक्सर इस शब्द को उत्पादन पद्धति या फिर समूचे वास्तविक समाज के अर्थों में भी इस्तेमाल किया है और 'समाज' शब्द को कई बार सामाजिक संरचना के अर्थों में इस्तेमाल किया है, लेकिन मार्क्स का इस विषय का *ट्रीटमेण्ट* आपको इसका अर्थ स्पष्ट कर देगा। *इसका अर्थ है कई उत्पादन पद्धतियों का तन्तुबद्धीकरण जिसमें कोई एक उत्पादन पद्धति प्रभुत्वशाली स्थिति में होती है।* आर्थिक आधार, एक आर्थिक अमूर्तन के रूप में नहीं, बल्कि अपने वास्तविक, यथार्थ अस्तित्व-रूप में (modus vivendi) में क्या होता है? ठीक उसी प्रकार जैसे कि हमें शुद्ध उत्पादन पद्धति नहीं बल्कि किसी एक उत्पादन पद्धति के प्रभुत्व के साथ कई उत्पादन पद्धतियों का तन्तुबद्धीकरण प्राप्त होता है, उसी प्रकार हमें कोई ऐसा आर्थिक आधार प्राप्त नहीं होता, जो कि केवल एक प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों से बना हो, बल्कि वहां भी हमें किसी एक प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों के प्रभुत्व के साथ कई प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों का तन्तुबद्धीकरण मिलता है। ऐसा समझना कि कोई भी उत्पादन पद्धति अपने शुद्ध, आदर्श रूप में आपको वास्तविकता में मिलेगी, वैसा होगा जैसे कि हम परिघटना और सार को, प्रतीतिगत यथार्थ और सारभूत यथार्थ को एक ही मान लें। मार्क्स ने बताया था कि अगर प्रतीतिगत यथार्थ और सारभूत यथार्थ एक ही होते, तो विज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं होती। मार्क्स ने जब यह कहा कि पूंजीवादी उत्पादन पद्धति के लिए उन्होंने इंग्लैण्ड का चयन इसलिए किया क्योंकि अन्य देशों के मुकाबले यहां पर पूंजीवादी उत्पादन पद्धति कहीं ज्यादा विकसित है और इसलिए अन्य उत्पादन पद्धतियों से इसका

तन्तुबद्धीकरण उन जटिल रूपों में मौजूद नहीं है, जिन रूपों में वह महाद्वीपीय यूरोप में मौजूद है; लेकिन मार्क्स ने स्पष्ट किया कि इंग्लैण्ड में भी अभी भी गैर-पूंजीवादी उत्पादन पद्धतियां मौजूद हैं और वे पूंजीवादी उत्पादन पद्धति द्वारा निर्धारित होती हैं, जैसे कि बेकरी या पॉटरी जैसे पेशे। किसी भी देश का अध्ययन करें, किसी भी दौर में उनका अध्ययन करें, हमें वास्तव में अस्तित्वमान सामाजिक पूर्णता (social totality) इसी रूप में प्राप्त होगी। लेकिन श्यामसुन्दर जैसे लोग वास्तविक सामाजिक जीवन में चलते-फिरते अमूर्तनों व विश्लेषणात्मक श्रेणियों की तलाश में रहते हैं। देखिये कि इस प्रवृत्ति का मज़ाक उड़ाते हुए, जिसके वाहक उस समय प्रूधों थे, मार्क्स ने क्या लिखा है:

"अगर जो भी अस्तित्वमान है, जो जमीन, और पानी के भीतर मौजूद है, उसे अमूर्तन के जरिये किसी तार्किक श्रेणी पर अपचयित किया जा सकता -- अगर पूरा वास्तविक विश्व अमूर्तनों के विश्व में डुबाया जा सकता, तार्किक श्रेणियों के विश्व में डुबाया जा सकता -- तो इस पर किसी को ताज्जुब होने की क्या आवश्यकता है?...

"*आर्थिक श्रेणियां केवल सैद्धांतिक अभिव्यक्तियां होती हैं, उत्पादन के सामाजिक सम्बन्धों का अमूर्तन, एम. प्रूधों, एक सच्चे दार्शनिक के समान इसको सिर के बल लटका देते हैं, और वास्तविक सम्बन्धों में और कुछ नहीं बल्कि सिद्धांतों का अवतरण, उन श्रेणियों का अवतरण देखते हैं, जो कि -- दार्शनिक एम. प्रूधों हमें बताते हैं -- "मानवता की अवैयक्तिक तर्कणा" के आलिंगन में निद्रालीन थीं।*" (मार्क्स, *पावर्टी ऑफ फिलॉसफी,* ज़ोर हमारा)

अब श्यामसुन्दर के उपरोक्त उद्धरण की अगली अज्ञानता पर आते हैं। श्यामसुन्दर को लगता है कि किसी भी नयी सामाजिक संरचना में यदि किसी पुरानी उत्पादन पद्धति के कुछ उत्पादन सम्बन्ध मौजूद हैं, तो वह अपने मूल रूप में ज्यों के त्यों अवशेष के रूप में मौजूद रहते हैं और वे आर्थिक आधार के बाहर कहीं श्यामसुन्दर की ईथरीय मूर्खता जैसे किसी वातावरण में मौजूद रहते हैं! लेकिन ऐसा नहीं होता है। हम यहां दिखलाएंगे कि जब भी पिछली या गौण व अधीनस्थ हो चुकी उत्पादन पद्धति के कुछ उत्पादन सम्बन्ध नये रूप में नये उत्पादन सम्बन्धों के अधीनस्थ बनते हैं, *उनके साथ तन्तुबद्धीकृत होते हैं और पूरे उत्पादन पद्धति और आर्थिक आधार में उनकी स्थिति प्रभुत्वशील उत्पादन सम्बन्धों से निर्धारित होती है।* हमने ऊपर मार्क्स के एक उद्धरण से इस बात को दिखलाया है, जहां मार्क्स कह रहे हैं कि हर आर्थिक आधार में प्रभुत्वशाली उत्पादन सम्बन्ध अन्य कई प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों को अपने अधीनस्थ बनाते हैं और उनके स्थान और महत्व को नयी सामाजिक संरचना में निर्धारित करते हैं। अब लेनिन के विचारों पर थोड़ा ग़ौर कर लेते हैं। हर मार्क्सवादी और विशेष तौर पर भारत के मार्क्सवादियों को और विशेषतम रूप में श्यामसुन्दर जैसे कठमुल्लावादियों को लेनिन की रचना 'रूस में पूंजीवाद का विकास' अवश्य पढ़ना चाहिए। लेनिन ने इस रचना में बताया है कि पूंजीवादी व्यवस्था के विकास के बाद भी घरेलू हथकरघा और दस्तकारी उत्पादन के प्राक्-पूंजीवादी रूप बने रहते हैं। जैसा कि हमने ऊपर उल्लेख किया है, मार्क्स व एंगेल्स ने बताया था कि इंग्लैण्ड के उन्नततम पूंजीवाद में भी ये सम्बन्ध कभी भी पूर्णत: समाप्त नहीं होते, विशेष तौर पर, इंग्लैण्ड के पॉटरी व बेकरी जैसे उद्योगों में। एंगेल्स ने यह भी स्पष्ट किया था कि केवल पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों से बने पूंजीवादी आर्थिक आधार के पैदा होने से पहले ही पूंजीवाद का अन्त हो जायेगा; यानी एक पूर्ण पूंजीवाद एक ऐतिहासिक रूप से अपूर्ण परियोजना है। अगर आज के अमेरिका की बात करें, तो वहां भी अगणित रूपों में छोटा माल उत्पादन जारी है, हालांकि कुल अर्थव्यवस्था में उसका हिस्सा बेहद छोटा है और उसकी भूमिका पूंजीवादी उद्योगों व व्यवसायों के अधीनस्थ व उनके साथ तन्तुबद्धीकृत हो चुकी है। यानी, किसी भी सामाजिक संरचना में किसी एक प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों के प्रभुत्व के बावजूद उसमें अन्य उत्पादन सम्बन्ध अधीनस्थ और रूपांतरित स्थिति में मौजूद होते हैं और प्रभुत्वशाली उत्पादन सम्बन्धों के साथ तन्तुबद्धीकृत होते हैं। लेनिन ने रूस में पूंजीवाद के विकास का अध्ययन करते हुए इसी प्रेक्षण को पुष्ट किया है। देखिये लेनिन क्या लिखते हैं:

"लेकिन उत्पादन का यह सरलतम रूपों में विभाजित होना, एक ओर बड़े पैमाने के मशीन उत्पादन के लिए एक अनिवार्य पूर्वस्थिति होता है, वहीं यह छोटे उद्योगों की वृद्धि की तरफ भी ले जाता है। आस-पड़ोस की आबादी को ऐसे विस्तृत कामों को अपने घर में ही, अपने उपकरणों का उपयोग करने के योग्य बना दिया जाता है, या तो मैन्युफैक्टरी के ऑर्डर पर, और या फिर वे "स्वतन्त्र" रूप से सामग्री खरीदकर, उत्पाद के कुछ विशिष्ट पुरजे बनाकर मैन्युफैक्चरर्स को बेचते हैं। *यह विरोधाभासपूर्ण लग सकता है कि पूंजीवादी मैन्युफैक्चर के विकास की एक*

अभिव्यक्ति छोटे (और कई बार "स्वतन्त्र") उद्योगों का विकास है: लेकिन यह एक तथ्य है। ऐसे "हैण्डीक्राफ्ट कामगारों" की "स्वतन्त्रता" काफी काल्पनिक होती है। अगर उत्पाद के अन्य अंगों के साथ, अन्य विस्तृत कार्रवाइयों के साथ कोई सम्बन्ध न हो, तो उनका काम नहीं चल सकता, और उनके उत्पादन का कई मौकों पर कोई उपयोग मूल्य ही नहीं होगा... *वे पूंजीवादी मैन्युफैक्टरी का ही अंग हो जाते हैं...*

"मैन्युफैक्चर के तहत, निर्भर मज़दूरों के साथ-साथ, हमेशा अर्द्धस्वतन्त्र उत्पादकों की एक कमोबेश अच्छी-खासी संख्या मौजूद होती है। *लेकिन रूपों का यह सारा वैविध्य मैन्युफैक्चर की मुख्य विशेषता पर पर्दा डालता है, यह तथ्य की श्रम के प्रतिनिधियों और पूंजी के प्रतिनिधियों के बीच विभाजन पहले से ही पूरी ताकत के साथ अभिव्यक्त हो चुका है।*" (लेनिन, *रूस में पूंजीवाद का विकास,* ज़ोर हमारा)

इसी पुस्तक में लेनिन आगे बताते हैं कि पूंजीवादी उद्योगों का विकास बहुत से अन्य रूपों के सामाजिक उत्पादन सम्बन्धों के बिना नहीं, बल्कि उनके साथ-साथ होता है और आगे उन्हें अपने अधीनस्थ कर उनका तन्तुबद्धीकरण करता है। लेनिन लिखते हैं:

"*सामान्य रूप में सभी सामाजिक सम्बन्धों की ही तरह, उद्योग के विभिन्न रूपों का विकास बहुत क्रमिक प्रक्रिया में आपस में बंधे, संक्रमणशील रूपों और अतीत की ओर जाने वाली गति के आभास के बिना नहीं हो सकता है।*" (वही)

लुब्बेलुबाब यह कि न तो श्यामसुन्दर को यह समझ आता है कि आर्थिक आधार क्या है, न यह समझ आता है कि उत्पादन पद्धतियों का तन्तुबद्धीकरण क्या है, और न ही यह समझ आता है कि सामाजिक संरचना की मार्क्सवादी अवधारणा क्या है और उत्पादन पद्धति की अवधारणा से उसका क्या सम्बन्ध है। नतीजतन, वह अपने ईथरीय मूर्खता के बौद्धिक जगत में एक शुद्ध आदर्श आर्थिक आधार की तलाश कर रहे हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे कि दोन किहोते दलसीनिया देल तोबोसो की तलाश कर रहा था! हम श्यामसुन्दर को अपने सांचो पांजाओं और अपने मरियल टट्टू रोसीनांते के साथ इस खोज में व्यस्त रहने के लिए छोड़ देते हैं!

श्यामसुन्दर के उपरोक्त उद्धरण में अन्तर्निहित तीसरी मूर्खता वही है, जिसका हम पहले ही खण्डन कर चुके हैं। वह समझते हैं कि जाति व्यवस्था महज़ एक सामन्ती अवशेष है और जाति व्यवस्था को वह उत्पादन पद्धति के तौर पर ट्रीट करते हैं। साथ ही, जाति व्यवस्था को सामन्ती उत्पादन सम्बन्ध माना गया है। ये सारी ही धारणाएं मूर्खतापूर्ण हैं और इतिहास से इनका कोई रिश्ता नहीं है। जाति उत्पादन व्यवस्था जैसी कोई चीज़ नहीं होती, जैसा कि भरत पटंकर जैसे लोग समझते हैं; जाति व्यवस्था भारत के इतिहास में अलग-अलग सामाजिक संरचनाओं में अलग-अलग रूपों से सहयोजित व समायोजित होकर उसका अंग रही है। प्राक्-पूंजीवादी दौर में जाति सम्बन्धों का वर्ग सम्बन्धों से अतिच्छादन सापेक्षिक तौर पर ज्यादा था, इसलिए वह आर्थिक आधार पर ज्यादा प्रभाव रखती थी। लेकिन जाति व्यवस्था स्वयं किसी दौर की, या कोई, उत्पादन पद्धति नहीं है। *लेकिन भरत पटंकर और श्यामसुन्दर में एक फर्क है। भरत पटंकर की ग़लती एक सैद्धान्तिक ग़लती है (चाहे वह कितनी भी बेतुकी क्यों न हो), लेकिन श्यामसुन्दर की ग़लती निपट मूर्खता है। पहले यानी भरत पटंकर के पास अपनी ग़लती के पीछे एक रिगरस तर्क प्रणाली है; लेकिन दूसरे यानी श्यामसुन्दर की ग़लती के पीछे मूर्खता, बचकानेपन और बौनेपन के अलावा कुछ भी नहीं है।* इसलिए श्यामसुन्दर का यह कहना कि यदि हम भारत को पूंजीवादी मानते हैं, तो हम पूंजीवादी जाति व्यवस्था की बात नहीं कर सकते, ठीक उसी प्रकार जैसे हम पूंजीवादी सामन्ती व्यवस्था की बात नहीं कर सकते, और अगर हम ऐसा करते हैं तो हम अर्द्धसामन्ती अर्द्धऔपनिवेशिक या किसी प्राक्-पूंजीवादी व्यवस्था की बात कर रहे हैं, परले दरजे की मूर्खता और अज्ञान है। श्यामसुन्दर को पूंजीवादी जाति व्यवस्था की बात करना, इन्हीं मूर्खतापूर्ण आधारों पर हमारा स्वविरोध लगता है, जबकि सच्चाई यह है कि श्यामसुन्दर की राजनीतिक अर्थशास्त्र और ऐतिहासिक भौतिकवाद की समझदारी मज़ाकिया और बचकानी है, जिसके कारण उन्हें पूंजीवादी जाति व्यवस्था की बात करना हमारा स्वविरोध लग रहा है। जब हम 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' की बात करते हैं, तो हम पूंजीवाद के दौर में जाति व्यवस्था के अस्तित्व रूप की चर्चा कर रहे हैं न कि आज की उत्पादन पद्धति को 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' कह रहे हैं; अगर ऐसा होता तो हम 'पूंजीवादी जाति उत्पादन पद्धति' शब्द का इस्तेमाल करते। इस नुक्ते पर हम आगे

आएंगे। लेकिन अभी इतना कहना होगा कि मार्क्स व लेनिन के उपरोक्त विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्थिक आधार, उत्पादन पद्धति और सामाजिक संरचना की अवधारणाओं का अर्थ क्या है और श्यामसुन्दर कैसे उन्हें समझने में बुरी तरह असफल रहे हैं।

VI.आधार और अधिरचना के बारे में श्यामसुन्दर के आधारहीन विचार

अपनी पुरानी अज्ञानता के प्रदर्शन को जारी रखते हुए श्यामसुन्दर आधार और अधिरचना के सम्बन्ध की एक गैर-मार्क्सवादी और गैर-द्वन्द्वात्मक समझदारी प्रस्तुत करते हुए बस इतना ही कहते हैं कि किसी भी समाज के आर्थिक आधार के अनुसार एक राजनीतिक, विचारधारात्मक अधिरचना का निर्माण होता है और यह अधिरचना उसकी सेवा करती है। यह एक अधूरी बात है। इसे पूरा करने के लिए यह भी बताना होगा कि आर्थिक आधार और अधिरचना के बीच एक द्वन्द्व, एक अन्तरविरोध भी होता है। श्यामसुन्दर की पूरी समझदारी से यह बात ग़ायब है। वह कहीं भी आर्थिक आधार और अधिरचना के बीच के द्वन्द्व की बात नहीं करते हैं। उनके अनुसार अधिरचना में बस पिछले युग की कुछ पुरानी कुरीतियां, प्रथाएं आदि रह जाती हैं, जिनका नया शासक वर्ग अपने अनुसार इस्तेमाल करता है और उसे बचाये रखने की कोशिश करता है और बाकी अधिरचना एकतरफा तरीके से आर्थिक आधार की सेवा करती रहती है। अब मार्क्स और एंगेल्स के आधार व अधिरचना के सम्बन्ध के विषय में विचारों पर थोड़ा ग़ौर कर लेते हैं, ताकि श्यामसुन्दर की अधकचरी समझदारी की वास्तविकता को समझा जा सके। मार्क्स ने 'वर्किंग डे' के अध्याय, यानी *पूंजी* खण्ड-1 के दसवें अध्याय में दिखलाया है कि पूंजीवादी विकास की स्वायत्त गति को फैक्टरी लेजिस्लेशन ने किस प्रकार न सिर्फ प्रभावित किया, बल्कि कई बार निर्धारित किया। यहां पर राजनीतिक व सामाजिक वर्ग संघर्ष ने आर्थिक कारकों को निर्धारित किया। निरपेक्ष अतिरिक्त मूल्य से सापेक्षिक अतिरिक्त मूल्य का संक्रमण मार्क्स के लिए महज़ एक आर्थिक प्रक्रिया नहीं थी, बल्कि मूलत: एक राजनीतिक और सामाजिक वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया थी। मार्क्स ने कलात्मक अधिरचना के बारे में लिखते हुए बहुत स्पष्ट तौर पर दिखलाया है कि आर्थिक आधार और अधिरचना के बीच कोई यांत्रिक कारणात्मकता (mechanical causality) का सम्बन्ध नहीं है। मार्क्स लिखते हैं:

"कलाओं के मामले में, यह सुविज्ञात है कि *उनके विकास के फलने-फूलन के कुछ निश्चित दौर समाज के आम विकास के अनुपात में बिल्कुल नहीं होते, और इसलिए भौतिक आधार से भी समानुपात में नहीं होते*...जो कि इसके संगठन के अस्थि-पंजर के समान होता है।" (मार्क्स, 'प्रस्तावना', *ग्रुण्डरिस्से,* ज़ोर हमारा)

श्यामसुन्दर जैसे यांत्रिकतावादियों और अधिभूतवादियों का ही खण्डन करने के लिए एंगेल्स ने आधार और अधिरचना के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों को बार-बार स्पष्ट किया है। एंगेल्स लिखते हैं:

"इसी के साथ विचारकों का यह मूर्खतापूर्ण विचार भी है कि हम विभिन्न विचारधारात्मक क्षेत्रों के स्वतन्त्र ऐतिहासिक विकास को नकारते हैं, जो कि इतिहास में एक भूमिका अदा करते हैं और हम इस भूमिका को भी नकारते हैं। कार्य और कारण के दो विपरीत ध्रुवों की इस आम गैरद्वन्द्वात्मक अवधारणा, अन्तर्क्रिया की पूर्ण उपेक्षा ही इस गलत धारणा का आधार है। ये महानुभाव अक्सर जानबूझकर भूल जाते हैं कि जब कोई ऐतिहासिक तत्व एक बार अन्य तत्वों के कारण, अन्तिम विश्लेषण में आर्थिक तथ्यों के द्वारा, अस्तित्व में आ जाता है, तो यह अपनी बारी में अपने वातावरण और यहां तक कि अपने स्वयं के कारणों पर प्रतिक्रिया कर सकता है।" (एंगेल्स, 'मेहरिंग को पत्र', 14 जुलाई 1893)

एंगेल्स के अन्य उद्धरण को देखें जहां 1894 में वह नस्ल को एक आर्थिक कारक बता रहे हैं और साथ ही अधिरचना के आर्थिक आधार पर प्रतिक्रिया को स्पष्ट कर रहे हैं:

"हम आर्थिक स्थितियों को वे कारक मानते हैं जो अन्तत: ऐतिहासिक विकास को निर्धारित करता है। *लेकिन नस्ल भी एक आर्थिक कारक है।*...

"राजनीतिक, विधिक, दार्शनिक, धार्मिक, साहित्यिक, कलात्मक, आदि विकास आर्थिक विकास पर आधरित होते हैं। लेकिन ये सभी एक दूसरे पर प्रतिक्रिया करते हैं और आर्थिक आधार पर भी प्रतिक्रिया करते हैं। *ऐसा नहीं है कि आर्थिक स्थिति ही कारण है और बस वही सक्रिय है, जबकि अन्य सभी चीज़ों का एक निष्क्रिय प्रभाव है।*" (एंगेल्स, 'डब्ल्यू बॉर्जियस को पत्र, 25 जनवरी, 1894, ज़ोर हमारा)

ऐसे ढेरों उद्धरण पेश किये जा सकते हैं, जिसमें मार्क्स और एंगेल्स ने आधार और अधिरचना के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों को स्पष्ट किया है। विशेष तौर पर, यदि एंगेल्स की सलाह मानते हुए, 'फ्रांस में वर्ग संघर्ष 1848-50', 'लुई बोनापार्त की अठारहवीं ब्रुमेयर' और 'फ्रांस में गृहयुद्ध' को पढ़ें, जो कि ऐतिहासिक भौतिकवाद को लागू करने वाली मार्क्स की आदर्श रचनाएं हैं, तो आप देख सकते हैं कि मार्क्स की आधार और अधिरचना की द्वन्द्वात्मक समझदारी क्या थी। एंगेल्स ने अपने एक पत्र में लिखा है:

"इसलिए अगर बार्थ यह कह रहे हैं कि हम राजनीतिक कारक, आदि की किसी भी और हरेक प्रतिक्रिया को नकारते हैं...तो वह बस काल्पनिक शत्रुओं पर तलवार भांज रहे हैं। उन्हें केवल मार्क्स की रचना *अठारहवीं ब्रुमेयर* देखने की आवश्यकता है, जो कि लगभग शुद्ध रूप से राजनीतिक संघर्षों और घटनाओं द्वारा निभायी जाने वाली *विशिष्ट* भूमिका का विश्लेषण करता है; निश्चित तौर पर, आर्थिक स्थितियों पर आम निर्भरता के दायरे में। या, मिसाल के तौर पर, *पूंजी* का कार्यदिवस वाला हिस्सा, जहां कानून, जो कि शुद्ध रूप से एक राजनीतिक कार्रवाई है, का ऐसा जबर्दस्त प्रभाव पड़ता है। या बुर्जुआ वर्ग के इतिहास वाला हिस्सा (अध्याय 24)...***बल (यानी कि राज्य सत्ता) भी एक आर्थिक शक्ति है।***" (एंगेल्स, कॉनरैड श्मिट को पत्र, 27 अक्टूबर 1890, ज़ोर हमारा)

इस उद्धरण में आप देख सकते हैं कि एंगेल्स आर्थिक आधार और अधिरचना के बीच किसी भी प्रकार एकतरफा और यांत्रिक सम्बन्ध का विरोध करते हैं और दिखलाते हैं कि आधार और अधिरचना के बीच भी द्वन्द्व का रिश्ता होता है, जिसमें कि आर्थिक आधार केवल अन्तिम विश्लेषण में निर्धारक भूमिका अदा करता है, न कि हरेक विशिष्ट ऐतिहासिक क्षण में। इस बात को समझने के लिए यह पूरा पत्र ही पढ़ना उपयोगी है। श्यामसुन्दर ने भी कॉनरैड श्मिट को लिखे गये एक दूसरे पत्र का एक हिस्सा पढ़ा लेकिन उसे ग़लत समझा और फिर उसका सन्दर्भ दे दिया; श्यामसुन्दर अपने आप को सही साबित करने की कितनी जल्दी में थे, यह इससे भी दिखता है कि उन्होंने किसी S. Schmidt को इस पत्र का प्राप्तकर्ता बना दिया! ऊपर हम इस पत्र के विषय में श्यामसुन्दर की अधकचरी समझदारी को अनावृत्त कर चुके हैं। जाहिर है कि मार्क्स व एंगेल्स का किसी भी किस्म का संजीदा अध्ययन हरेक विषय-वस्तु के विश्लेषण में द्वन्द्व के नियम को प्रदर्शित करता है। लेकिन क्या आप श्यामसुन्दर से इनके गम्भीर अध्ययन की उम्मीद कर सकते हैं? हमें इस उम्मीद की उम्मीद काफी कम लगती है।

अपनी भोंडी समझदारी के आधार पर श्यामसुन्दर लिखते हैं:

"लेकिन ये अतीत की प्रतिक्रियावादी सामाजिक कुरीतियां, रूढियां और प्रथाएं उस समाज व्यवस्था के आधार का स्थान नहीं ले सकतीं। कम्युनिस्टों को आधार और अधिरचना के इस द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध के सिद्धान्त का सुसंगत रूप से अपने दृष्टिकोण का हिस्सा बनाना चाहिए। *ऐसा कभी भी नहीं होना चाहिए कि हम वर्तमान समाज की विचारधारा अथवा अतीत की प्रतिक्रियावादी कुरीतियों-प्रथाओं को समाज व्यवस्था का आधार ही बना बैठें।* ऐतिहासिक भौतिकवाद सम्बन्धी इस प्रकार की मौलिक और सरल बातों की चर्चा यहां इसलिए करनी पड़ रही है कि 'बिगुल मज़दूर दस्ता' के नेतृत्वकारी साथियों का दृष्टिकेण भी इस लिहाज़ से सुसंगत नहीं है।"

ये शब्द श्यामसुन्दर के मुंह से सुनकर आपको समझ आता है कि मूर्खता की पराकाष्ठा और अपनी ही मूर्खता के बारे में मूर्खता की पराकाष्ठा में क्या अन्तर होता है! पहली बात तो यह कि श्यामसुन्दर को स्वयं ही आधार व अधिरचना के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों के बारे में कोई जानकारी नहीं है; उन्होंने इसके बारे में शायद किसी डिग्री कालेज की 'मेड इज़ी' टाइप किताब पढ़ ली है, या इण्टरनेट पर आधार-अधिरचना के सम्बन्ध के बारे में जो तमाम अनर्गल बातें अधकचरे लोगों ने लिख रखीं हैं, उन्हीं में से कोई बात लेकर यहां पर चेंप दी है। *दूसरी बात आप ग़ौर करेंगे कि*

श्यामसुन्दर के लिए जाति व्यवस्था बस बीते युग की एक सामाजिक कुरीति या कुप्रथा है। इसी यांत्रिक और भोंड़े दृष्टिकोण के कारण तमाम कठमुल्लावादी मार्क्सवादी भारत में जाति व्यवस्था के प्रश्न को समझ ही नहीं पाए। और इस कठमुल्लावाद के सबसे दरिद्र और मज़ाकिया संस्करण हैं श्यामसुन्दर। हमने ऊपर जाति व्यवस्था के समकालीन भारत में वितरण के सम्बन्धों और श्रम विभाजन पर असर के बारे में तमाम आंकड़े पेश किये हैं और आप तमाम अन्य आंकड़े अभिलेखागारों और शोध कार्यों में जाकर स्वयं देख सकते हैं। इन आंकड़ों के बावजूद ऐसी अज्ञानतापूर्ण बातें कहना दिखलाता है कि श्यामसुन्दर अपनी मनोगत छवियों द्वारा यथार्थ का निर्माण करते हैं, न कि यथार्थ के अध्ययन द्वारा अपनी अवधारणाओं का।

इसके बाद श्यामसुन्दर जाति व्यवस्था के इतिहास-लेखन पर मेरे पेपर पर आते हैं। यहां श्यामसुन्दर सीधे बौद्धिक बेईमानी और *मिस्कोट* करने पर उतर आते हैं और इन बेईमानियों और मिस्कोटिंग के आधार पर भी वज्र मूर्खता प्रदर्शित करने वाली कुछ नयी बातें कहते हैं। आइये देखते हैं कैसे। मेरे पेपर के इस हिस्से को श्यामसुन्दर ने उद्धृत किया है:

"एक पहलू है जो अभी भी बरकरार है और वह पहलू है सजातीय विवाह की प्रथा। और इसका कारण एकदम ठीक यही है कि इसका पूंजीवादी उत्पादन पद्धति से कोई बैर नहीं है। वास्तव में, यह पूंजीवाद के लिए बेहतर है और मेल खाता है। पूंजीवाद के दौर में पितृसत्ता का भी नये रूप में बरकरार रहने का यही कारण है। और ये दोनों कारक एक-दूसरे को बल देते हैं, यानी कि पितृसत्ता सजातीय विवाह पर आधारित पूंजीवादी जाति व्यवस्था को, और पूंजीवादी जाति व्यवस्था पूंजीवादी पितृसत्ता को। और ये दोनों मिलकर पूंजीवादी व्यवस्था और पूंजीपति वर्ग को अपने दमन और शोषण की मशीनरी को चाक-चौबन्द करने का अवसर देते हैं।"

इसका क्या अर्थ है? इसका सिर्फ यह अर्थ है कि पूंजीवादी व्यवस्था के पैदा होने के साथ जाति व्यवस्था के तीन में दो आयाम, यानी अस्पृश्यता और आनुवांशिक श्रम विभाजन क्षीण पड़ते गये हैं, जबकि सजातीय विवाह की प्रथा बरकरार है। हमने इस पेपर का लिंक ऊपर दिया है; अगर आप उसे पढ़ें तो उसमें विस्तार से दिखलाया गया है कि जाति व्यवस्था में शुरू से ही बदलते उत्पादन सम्बन्धों के अनुसार परिवर्तन होते रहे हैं; इस सन्दर्भ में कालिक और स्थानिक परिवर्तनों का विस्तार से इतिहास बताया गया है। इस विषय में जो नवीनतम मार्क्सवादी शोध हुए हैं, उनके हवाले से दिखलाया गया है कि जाति और वर्ग में उत्तर-वैदिक काल से ही संगति (correspondence) का सम्बन्ध रहा है। इस संगति के सम्बन्ध के ही अन्तर्गत पूंजीवादी उत्पादन पद्धति और वर्ग सम्बन्धों के पैदा होने के बाद जाति व्यवस्था के वे पहलू जो कि पूंजीवादी युग के अनुसार जीवक्षम (viable) नहीं रह गये, वे क्षीण होते गये, जबकि वह पहलू जो कि पूंजीवादी व्यवस्था के साथ मेल रखता है, वह बरकरार रहा, *मगर स्तरोन्नयन या रूपान्तरण के साथ।* पेपर में यह भी बताया गया है कि सजातीय विवाह का पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों से मेल क्यों है। सजातीय विवाह स्त्रियों की पराधीनता और पितृसत्ता के साथ ही संस्थाबद्ध हुआ और हम जानते हैं कि इतिहास में इसकी भूमिका निजी सम्पत्ति की एक परिवार, एक कुल, गोत्र या जाति में निरन्तरता और उत्तराधिकार की निरन्तरता बनाये रखने की अनिवार्यता के अस्तित्व में आने के साथ अस्तित्व में आयी। यानी असल उद्देश्य है निजी सम्पत्ति व उत्तराधिकार की निरन्तरता को बरकरार रखना। इसका पूंजीवादी उत्पादन पद्धति से कोई नकार नहीं है; उल्टे यह पूंजीवादी निजी सम्पत्ति को और भी "पवित्र" बना देती है। कोई भी व्यक्ति जिसका मानसिक सन्तुलन दुरुस्त है, वह इस पेपर का यही अर्थ निकालेगा। लेकिन आइये देखते हैं कि श्यामसुन्दर ने इसका क्या विचित्र अर्थ निकाला है। श्यामसुन्दर लिखते हैं:

"यानी सजातीय विवाह की प्रथा को उन्होंने वर्तमान *पूंजीवादी समाज व्यवस्था का आधार* ही ठहरा दिया। यानी अधिरचना का पहलू सारी समाज व्यवस्था का आधार बन गया...अभिनव सिन्हा को *यदि वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था को पूंजीवादी जाति व्यवस्था सिद्ध करना है,* तो महज़ इस मकसद से ही मार्क्सवाद विरोधी भाववाद के इस दलदल में उतरना पड़ा कि *पूंजीवादी व्यवस्था का आधार ही सजातीय विवाह की प्रथा को ठहराना पड़ा।*" (ज़ोर हमारा)

इन शब्दों से श्यामसुन्दर ने सिद्ध कर दिया कि उन्हें हिन्दी भाषा की व्याकरण, वाक्य विन्यास आदि की भी समझदारी नहीं है। श्यामसुन्दर की इस व्याख्या ने एक वाकया याद दिला दिया। हमारे एक मित्र अध्यापक थे; उनके पास परीक्षा की पुस्तिकाएं चेक करने के लिए आती थीं। उनमें से एक पुस्तिका में हिन्दी के एक विद्यार्थी से इस मुहावरे का अर्थ पूछा गया था: 'नीम हकीम ख़तरा ए जान'। विद्यार्थी का उत्तर यह था: 'ऐ हकीम! तू नीम के पेड़ के नीचे मत जा! वहां तेरी जान को खतरा हो सकता है!' श्यामसुन्दर ने कुछ ऐसी ही व्याख्या मेरे पेपर की कर दी है। ऐसी स्थिति उन लोगों की होती है, जो राजनीति में आने के बाद कुछ शब्द सीख लेते हैं, जैसे 'अधिभूतवाद', 'भाववाद', 'अज्ञेयवाद', 'निषेध का निषेध' आदि और बिना मतलब इन शब्दों को जहां मन वहां ठेले देते हैं। श्यामसुन्दर की स्थिति ऐसी ही है। अब आइये उनकी व्याख्या का विखण्डन करते हैं। *उनका कहना है कि मैंने सजातीय विवाह को पूंजीवादी समाज का आधार ठहराया है। यह मेरे पेपर में कहीं नहीं लिखा है या कहा गया है, जो कहा गया है वह यह है कि जाति व्यवस्था का आधार पूंजीवादी उत्पादन पद्धति व सामाजिक संरचना में मूलत: और मुख्यत: सजातीय विवाह ही रह गया है, क्योंकि उसके अन्य दो आयाम पूंजीवादी उत्पादन पद्धति से मेल न खाने के कारण क्षीण पड़ गये हैं, हालांकि समाप्त नहीं हुए हैं।*

दूसरी बात, 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' में 'पूंजीवादी' विशेषण है, जबकि 'जाति व्यवस्था' संज्ञा है। यानी हम आज के दौर की जाति व्यवस्था का चरित्र बताते हुए इसे पूंजीवादी जाति व्यवस्था कह रहे हैं; ठीक उसी प्रकार जैसे हम सामन्ती दौर की जाति व्यवस्था को सामन्ती जाति प्रथा कहते हैं, या हम सामन्ती दौर की पितृसत्ता को सामन्ती पितृसत्ता और पूंजीवादी दौर की पितृसत्ता को पूंजीवादी पितृसत्ता कहते हैं। लेकिन श्यामसुन्दर को विशेषण और संज्ञा का अर्थ भी नहीं पता है, और इसीलिए उन्हें एक सामान्य वाक्य का वाक्य विन्यास और सही अर्थ भी समझ नहीं आता है। 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' शब्द समूह में जाति व्यवस्था का मौजूद चरित्र बताया जा रहा है, न कि यह किसी एक उत्पादन व्यवस्था का नाम है। उत्पादन व्यवस्था का नाम पूंजीवादी उत्पादन व्यवस्था ही है और अगर हमें उसके जातिगत चरित्र को दिखलाना होता, तो हम उसे 'जातिवादी पूंजीवादी व्यवस्था' या 'ब्राह्मणवादी पूंजीवादी व्यवस्था' कहते, जिस सूरत में अर्थ यह होता कि मौजूद पूंजीवादी राज्य, उसके तमाम निकाय और उसके अंगों-उपांगों का एक जातिवादी और ब्राह्मणवादी चरित्र है; लेकिन इसका अर्थ भी यह नहीं होगा कि हम पूंजीवादी उत्पादन पद्धति को *पूंजीवादी जाति उत्पादन पद्धति* कह रहे हैं। श्यामसुन्दर दूर की कौड़ी भी नहीं ढूंढ कर लाते हैं, वह काल्पनिक कौड़ी ढूंढकर लाते हैं! जैसा कि आप देख सकते हैं कि श्यामसुन्दर विशेषण और संज्ञा में अन्तर करना भी नहीं जानते और इसलिए पवनचक्कियों को दानव समझकर अपनी कठमुल्ला समझदारी की गत्ते की तलवार लेकर उस पर टूट पड़ते हैं; ऐसे रोमांचकारी कारनामे का जो परिणाम दोन किहोते को भुगतना पड़ा था, वहीं परिणाम यहां श्यामसुन्दर को भुगतना पड़ रहा है! *लुब्बेलुबाब यह है कि जब हम 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' का इस्तेमाल करते हैं, तो वह पूंजीवादी दौर में जाति व्यवस्था के चरित्र को बताता है न कि उत्पादन पद्धति का।* बड़े अफसोस की बात है कि वामपंथी आन्दोलन में इतने वर्ष बिताये हुए व्यक्ति को हिन्दी व्याकरण भी समझाने की आवश्यकता पड़ रही है।

इसके अलावा, मैंने अपने पूरे पेपर में कहीं भी सजातीय विवाह को पूंजीवादी व्यवस्था का आधार नहीं बताया है। यहां श्यामसुन्दर ज्यादा समझदारी करने की कोशिश में और बेढब स्थिति में पाए जाते हैं। जैसा कि हमने ऊपर कहा था, चूहा मोटा भी होता है, तो लोढ़े जितना ही होता है। उद्धृत और व्याख्यायित करने में बौद्धिक बेईमानी करने चले तो ऐसे नौसिखुआ तरीके से की, जो कि किसी बच्चे के भी सीधे पकड़ में आ जाये। इतनी मूर्खता, 'अटेम्प्टेड' बेईमानी और बचकानेपन के बाद भी श्यामसुन्दर गज़ब के साहस के साथ साथियों का आह्वान कर रहे हैं: "साथियो! मार्क्सवाद के इन सब मौलिक सिद्धान्तों पर एक गम्भीर और स्वस्थ बहस की दरकार है।" *लेकिन जिसे हिन्दी भाषा के व्याकरण का भी ज्ञान न हो और जो 25 पेज के पत्र में इतनी बहकी-बहकी, सनक भरी, बचकानी और मूर्खतापूर्ण बात कर सकता हो, उसके साथ किस प्रकार की गम्भीर और स्वस्थ बहस हो सकती है? जो बहस में अपने प्रतिवादी को सही तरीके से उद्धृत और व्याख्यायित करने की बुनियादी नैतिकता भी न रखता हो, उससे किस प्रकार की संजीदा बहस हो सकती है? लेकिन सबसे अहम बात है कि जिसे मार्क्सवाद का 'क ख ग' भी न आता*

हो, और वह अपने आपको मार्क्सवाद का भारी पण्डित समझे बैठा हो, उसके साथ किस प्रकार का गम्भीर संवाद हो सकता है?

VII.आरक्षण के विषय में हमारी अवस्थिति को समझने की श्यामसुन्दर की असफल कोशिश

जब आप श्यामसुन्दर के पत्र के आखिर तक आने लगते हैं, तब तक आप यह उम्मीद छोड़ चुके होते हैं कि यह महाशय किसी सामान्य तर्क, वाक्य या रचना को भी समझने हेतु उपयुक्त मन:स्थिति और क्षमता रखते हैं। इसलिए जब श्यामसुन्दर आरक्षण के सम्बन्ध में प्रकाशित हुई हमारी पुस्तिका 'आरक्षण: पक्ष, विपक्ष और तीसरा पक्ष'की आलोचना रखते हैं, तब तक आप जान चुके होते हैं कि यहां भी आपको कोई हैरानी या ताज्जुब नहीं होने वाला है और यहां भी उन्होंने अपने बौद्धिक दीवालियेपन के नये उदाहरण ही पेश किये होंगे। और आपकी कसौटी और उम्मीद पर श्यामसुन्दर बिल्कुल खरे उतरते हैं।

श्यामसुन्दर लिखते हैं:

"पुस्तिका के इस शीर्षक से भी दिखाई पड़ता है कि यहां भी इन्होंने हेगेलीय द्वन्द्ववादी त्रिक की अवधारणा, जिसे दर्शन के क्षेत्र में आम तौर पर वाद, प्रतिवाद और संवाद के रूप में जाना जाता है, को बैसाखी के तौर पर इस्तेमाल किया है। *हेगेल के वाद, प्रतिवाद और संवाद के प्रयोग का अनेक स्थितियों में कोई स्कोप नहीं होता, जैसे कि यदि कोई कहे कि वह न तो पूंजीवाद के पक्ष में है और न ही इसके प्रतिवाद समाजवाद के पक्ष में है, बल्कि वह इन दोनों से ऊपर उठकर तीसरे पक्ष में है।* 'बिगुल' वालों द्वारा आरक्षण बारे तीसरे पक्ष की अवस्थिति अख्तियार करना भी कुछ ऐसा ही है।" (ज़ोर हमारा)

आगे श्यामसुन्दर पूछते हैं कि यदि हमारा मानना है कि जाति आर्थिक आधार का एक अंग है और अधिरचना पर इसकी प्रचण्ड पकड़ है, जब देश भर में दलितों का उत्पीड़न बढ़ रहा है, दलित "बहू-बेटियों" पर हमले हो रहे हैं *(ऐसी शब्दावली श्यामसुन्दर जैसे वामपंथियों की स्त्रियों के विषय में समझदारी को भी दिखलाता है, जो कि स्त्रियों की पहचान को ही किसी की बहू या बेटी या मां होने तक सीमित कर देती है और उसे एक स्वतन्त्र पहचान से वंचित कर देती है; एसयूसीआई के 'सेण्टिमेण्टल', 'मॉरलिस्ट' और 'एथिकलिस्ट' वामपंथी भी अक्सर ऐसी शब्दावली का इस्तेमाल करते हैं):*

"तो फिर इस 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' के आधार और अधिरचना में घुले-मिले अन्याय, अत्याचार और असमानता के मौजूद रहते हुए भी जातिगत आरक्षण के पक्ष में न होकर 'तीसरे पक्ष' की अवस्थिति को अपनाना कहां तक न्यायसंगत और जनवादी है?...क्या इनकी आरक्षण बारे नीति यह नहीं होनी चाहिए कि *जब तक व्यवस्था एक 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' रहेगी* तब तक इस 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' में ये जातिगत आरक्षण के पक्ष में रहेंगे? तीसरे पक्ष में नहीं। यदि इस 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' में केन्द्र सरकार आरएसएस आदि के दबाव में आकर या अन्यथा जाति आधारित आरक्षण को खत्म करने के लिए कानून बनाने लगे और देश के दलित उसके खिलाफ विरोध में सड़कों पर उतर आए तो 'बिगुल मज़दूर दस्ता' इस स्थिति में क्या पोजीशन लेगा।" (ज़ोर हमारा)

अन्त में, श्यामसुन्दर तर्जनी उठाकर हमें आदेश देते हैं:

"स्पष्ट है कि 'बिगुल' वालों को या तो वर्तमान व्यवस्था के एक 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' के रूप में आकलन का परित्याग करना होगा नहीं तो उन्हें आरक्षण के सम्बन्ध में अपनी अवस्थिति के 'तीसरे पक्ष' का परित्याग करना होगा।" और सुनिये: "और यदि ऐसा नहीं किया जाता तो इस विरोधाभासी अवस्थिति के पीछे जरूर इनका कोई ऐसा मकसद है जिस पर वे पर्दा डाले रखना चाहते हैं।"

बाप रे! हम तो इस धमकी से डर गये! किसी वरिष्ठ साथी ने एक बार एक बड़े मार्के की बात कही थी, "दो समझदार एक जैसे हो सकते हैं, लेकिन दो मूर्ख कभी एक जैसे नहीं होते।" श्यामसुन्दर की अद्वितीय मूर्खता देखकर यह टिप्पणी बरबस ही याद आ गयी। जैसाकि आप देख सकते हैं *श्यामसुन्दर फिर नहीं समझ पाए हैं कि 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' आज की उत्पादन पद्धति को नहीं कहा गया है, बल्कि पूंजीवाद के दौर में जाति व्यवस्था की विशिष्टता को निर्दिष्ट करने के लिए इस्तेमाल किया गया शब्द है, जिसमें कि 'पूंजीवादी' एक विशेषण है, जबकि 'जाति व्यवस्था' एक संज्ञा है; हमारे पेपर को पढ़कर ऐसी ग़लती कोई वज्र मूर्ख ही कर सकता है, क्योंकि हमारे पेपर में आज के दौर की पूंजीवादी जाति-व्यवस्था का विश्लेषण करने से पहले ऐतिहासिक तौर पर सामन्ती जाति व्यवस्था और प्राक्-सामन्ती जाति व्यवस्था का मूल्यांकन किया गया है और उस पूरे ऐतिहासिक संक्रमण को दिखलाया गया है, जिसके ज़रिये जाति व्यवस्था अपने उद्भव के बाद उत्पादन सम्बन्धों में परिवर्तनों के साथ किस प्रकार विकसित होते हुए आयी है।*

श्यामसुन्दर दावा करते हैं कि हेगेल के सिंथेसिस और निषेध का निषेध का सिद्धान्त हर प्रक्रिया पर लागू नहीं होता। हेगेल के इस सिद्धान्त से मार्क्स का फर्क केवल इस बात के लिए था कि हेगेल इस पूरी द्वन्द्वात्मक पद्धति को विचारों के जगत पर लागू करते थे, जबकि मार्क्स का कहना था कि विचार जगत केवल वास्तविक जगत का एक *मीडियेटेड* प्रतिबिम्बन होता है और निषेध का निषेध का यह नियम मूलत: वस्तु जगत पर लागू होता है, क्योंकि विचार जगत में जो द्वन्द्व होता है, वह इसी वजह से होता है क्योंकि वस्तु जगत में द्वन्द्व होता है और वह द्वन्द्व, वह विपरीत तत्वों की एकता और संघर्ष के विकास का परिणाम निषेध का निषेध के रूप में, कुण्डलाकार विकास के रूप में ही सामने आता है। दूसरे शब्दों में, यह पद्धति (method) सार्वभौमिक है और हर परिघटना पर लागू होता है, चाहे वह प्राकृतिक हो, सामाजिक हो या मानसिक हो। इस तर्क का कि यह नियम सभी चीज़ों पर लागू नहीं होता, हम एंगेल्स के हवाले से पहले ही खण्डन कर चुके हैं। लेकिन यहां श्यामसुन्दर ने जो उदाहरण दिया है, उससे भी आपको पता चल जायेगा कि इन महोदय को द्वन्द्ववाद के इस बुनियादी नियम की कोई समझ नहीं है। *पहली बात तो यह है कि थीसिस, एंटीथीसिस व सिंथेसिस का सिद्धान्त हर ऐतिहासिक और प्राकृतिक प्रक्रिया पर लागू होता है; दूसरी बात सिंथेसिस अपने आप में थीसिस या/और एंटीथीसिस का विपरीत नहीं होती है; तीसरी बात, पूंजीवादी समाज में पूंजी और श्रम तथा पूंजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग एक थीसिस व एंटीथीसिस की नुमाइन्दगी करते हैं; हर सामाजिक पूर्णता के समान पूंजीवाद भी विपरीत तत्वों की एकता व संघर्ष से ही बनता है और इसके भीतर के विपरीत तत्व हैं श्रम व पूंजी की शक्तियां। वास्तव में, इनमें से एक के भी समाप्त होने से दूसरा खुद-ब-खुद समाप्त हो जाता है, और साथ ही वह सामाजिक पूर्णता भी समाप्त हो जाती है; यह है विपरीत तत्वों की एकता; और इस सामाजिक पूर्णता में ये तत्व सतत् संघर्षरत रहते हैं; यह है इनका संघर्ष जो इस सामाजिक पूर्णता, यानी पूंजीवाद को एक चरण से दूसरे चरण में ले जाते हैं। लेकिन क्या यह दूसरा चरण, यानी समाजवाद, पहले चरण, यानी कि पूंजीवाद का विपरीत है? नहीं। यदि समाजवाद पूंजीवाद का विपरीत है, तो फिर समाजवाद का विपरीत क्या हुआ? पूंजीवाद! द्वन्द्ववाद की इस विचित्र श्यामसुन्दरीय समझदारी का अर्थ यह हुआ कि समाजवाद विकास की प्रक्रिया में फिर से पूंजीवाद में तब्दील हो जायेगा! समाजवाद में भी सर्वहारा वर्ग और पूंजीपति वर्ग का संघर्ष जारी रहता है, इस फर्क के साथ कि अब प्रधान पहलू सर्वहारा वर्ग बन चुका है, क्योंकि वह राज्यसत्ता पर काबिज है, वह शासक वर्ग बन चुका है; लेकिन पूंजीपति वर्ग समाप्त नहीं हुआ होता और सर्वहारा वर्ग की राज्यसत्ता को पलटने के लिए सतत् प्रयासरत रहता है। यदि सर्वहारा वर्ग इन प्रयासों को विफल कर, अपने अधिनायकत्व के मातहत क्रांतिकारी वर्ग संघर्ष को आगे बढ़ाते हुए अपने आपको और इसके साथ सारे वर्ग विभाजनों को समाप्त करता है, तो एक वर्गविहीन समाज, कम्युनिस्ट समाज का आरम्भ होता है। यह वर्गविहीन समाज वर्ग समाज का विपरीत है और यह आदिम वर्गविहीन समाज का प्रतीतिगत दुहराव है, मगर वास्तव में, यह विकास की प्रक्रिया में एक नये ऊंचे स्तर पर वर्गविहीन समाज की स्थापना है और इसीलिए यह "दुहराव" प्रतीतिगत है।* इसलिए श्यामसुन्दर का यह उदाहरण कि समाजवाद पूंजीवाद के विपरीत है, एक बार फिर दिखलाता है कि इनको 'निषेध का निषेध' का नियम बिल्कुल समझ नहीं आया है।

तीसरी बात, श्यामसुन्दर ने हमारी पुस्तिका या तो ठीक से पढ़ी नहीं है, या फिर उनके समझ में नहीं आयी है। *हमने अपनी पुस्तिका में ठीक यही बात रखी है कि आरक्षण का विरोध और समर्थन वास्तव में दो विपरीत अवस्थितियां नहीं, बल्कि छद्म विपरीतों की बाइनरी है, एक 'डिस्जंक्टिव सिंथेसिस'।* इसलिए हमारी अवस्थिति के विषय में यह कहना कि हमने आरक्षण के विरोध और समर्थन को विपरीत पहलू माना है, यह दिखलाता है कि श्यामसुन्दर ने पुस्तिका के शीर्षक से आगे पढ़ने का धैर्य नहीं दिखलाया है और शीर्षक पढ़ते ही आलोचना लिखने के लिए मचल गये हैं।

चौथी बात, अगर उन्होंने हमारी पुस्तिका पढ़ी होती तो उन्हें पता होता कि सबसे पहले हमने उन लोगों का खण्डन किया है जो कि आरक्षण का विरोध करते हैं या उसे खत्म करने के बात करते हैं। हमने विस्तार से दिखलाया है कि यह अवस्थिति एक जातिवादी श्रेष्ठता ग्रन्थि और ब्राह्मणवाद से प्रेरित अवस्थिति है। इसलिए यह प्रश्न उठाना कि हम आरक्षण को खत्म किये जाने या लागू न किये जाने पर क्या अवस्थिति अपनाएंगे, एक बार फिर दिखलाता है कि श्यामसुन्दर ने पुस्तिका का अध्ययन नहीं किया है। *हमारी अवस्थिति यह है कि आरक्षण का विरोध किये जाने का विरोध यह नहीं है कि हम आरक्षण के बारे में आम दलित जनसमुदायों में यह विभ्रम पैदा करें कि आरक्षण की नीति से उनका उत्थान होगा या जाति का नाश होगा। चूंकि यह समझदारी दलित जनसमुदायों के विशेषकर निम्न मध्यवर्गीय और मध्यवर्गीय जमातों में प्रभावी है, इसलिए हमारी अवस्थिति आरक्षण का विरोध करने वालों का विरोध एक यथार्थवादी सर्वहारा अवस्थिति से करना है, न कि यह कहकर बिना शर्त विरोध करना कि आरक्षण को बचाये रखने से दलित आबादी को कुछ हासिल होगा। इसका अर्थ स्पष्ट तौर पर यह है कि जो आरक्षण पहले से मौजूद है, उसे लागू करना सरकार की जिम्मेदारी है और उसे लागू करवाना दलित जनसमुदायों और प्रगतिशील जमातों का जनवादी कार्यभार है। लेकिन आरक्षण को दलितों की निम्न सामाजिक-आर्थिक स्थिति के स्तरोन्नयन और जाति के नाश के रास्ते के तौर पर पेश करके "जनवादी" विभ्रम पैदा करना (जैसा कि नीतीश कुमार ने हाल में 'महादलित' की श्रेणी बनाकर किया) और आरक्षण के नाम पर नयी-नयी श्रेणियां बना कर व्यापक दलित, पिछड़े और आदिवासी मेहनतकश जनसमुदायों को ही आपस में लड़वा देना (जैसे कि गुज्जर और मीणा आपस में लड़ गये थे) शासक वर्ग का 'ट्रैप' है और आरक्षण का समर्थन इस अवस्थिति से नहीं किया जा सकता।* दूसरी बात यह है कि नवउदारवादी नीतियों के लागू होने के बाद से सरकारी नौकरियां घट रही हैं और ऐसे में आरक्षण एक जनवादी अधिकार से ज्यादा एक बुर्जुआ जनवादी विभ्रम में तब्दील हो चुका है; इसलिए नये-नये आरक्षणों के लिए लड़ना एक ऐसी चीज़ के लिए लड़ने के समान है, जो कि कहीं है ही नहीं। *इसलिए हमारी अवस्थिति आरक्षण को खत्म करने के भी विरोध में है, लेकिन यह एक सामान्य निषेध नहीं है, बल्कि एक बाशर्त और तार्किक रूप में 'नुआंस्ड' अवस्थिति है। यह अवस्थिति आरक्षण के जाति-विरोधी रणनीति के तौर पर समर्थन किये जाने का भी निषेध है और यह आरक्षण को 'मेरिटोक्रेसी' आदि के नाम पर खत्म करने का भी निषेध है; और यह इसलिए सम्भव है क्योंकि आरक्षण के बिना शर्त समर्थन और बिना शर्त विरोध को हम परस्पर विरोधी अवस्थितियां मानते ही नहीं हैं।* हमारे संगठन ने व्यावहारिक तौर पर भी हर जगह आरक्षण को लागू नहीं किये जाने या खत्म करने के प्रयासों का इसी 'नुआंस्ड' अवस्थिति के साथ विरोध किया है और साथ ही दलित जनसमुदायों में आरक्षण को लेकर कोई भी विभ्रम पालने की प्रवृत्ति पर चोट करते हुए राजनीतिक प्रचार भी किया है; जो भी हमारी संगठन की गतिविधियों से वाकिफ हैं, वे इस बात को अच्छी तरह से जानते हैं। आरक्षण के पक्ष और विपक्ष की निरपेक्ष अवस्थितियां एक गैर-मुद्दे को मुद्दा बनाती हैं। *वह मुद्दा क्या है? वह मुद्दा यह है कि क्या आरक्षण की नीति से जाति का नाश हो जायेगा या दलित आबादी का सामाजिक-आर्थिक स्तरोन्नयन हो जायेगा? आंकड़ों से सिद्ध किया जा सकता है कि हमारे देश में आरक्षण की नीति का पिछले लगभग चार दशकों का इतिहास ऐसा नहीं दिखलाता है। साथ ही, आंकड़ों से यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि जहां कहीं भी आरक्षण की नीति का सापेक्षिक रूप से अधिक सलीके से कार्यान्वयन हुआ है, वहां योग्यता से कोई खिलवाड़ नहीं हुआ है। उल्टे तमिलनाडु जैसे राज्यों में शिक्षा व स्वास्थ्य की व्यवस्था अन्य राज्यों के अनुसार कहीं बेहतर है। इससे और कुछ नहीं तो यह तो साबित हो ही जाता है कि आरक्षण की नीति के कार्यान्वयन से योग्यता से खिलवाड़ का तर्क वास्तव में सवर्णवादी मानसिकता से पैदा होता है।* इसलिए अगर श्यामसुन्दर ने हमारी पूरी अवस्थिति को विस्तार से पढ़ा होता और समझा होता तो वह ऐसा अहमकाना सवाल नहीं उठाते कि अगर आज सरकार आरक्षण की नीति को समाप्त कर दे और दलित आबादी इसके विरोध में सड़कों

पर उतरे तो हम इसका विरोध करेंगे या समर्थन। हम दलित आबादी के आन्दोलन का इस राजनीतिक प्रचार के साथ समर्थन करेंगे कि सरकार की इस जातिवादी और ब्राह्मणवादी नीति का बिना शक़ विरोध किया जाना चाहिए, मगर हमें इस नीति के लागू होने के नतीजों के प्रति यथार्थवादी होना चाहिए और कोई विभ्रम नहीं पालना चाहिए। *यह है 'तीसरा पक्ष', जो कि श्यामसुन्दर जैसे कठमुल्लावादियों के समझ में नहीं आता; जो कि, नतीजतन, छद्म विकल्पों की बाइनरी में ही उलझे रह जाते हैं।*

VIII.जाति उन्मूलन के प्रश्न पर श्यामसुन्दर का कार्यक्रम: एनासिन की टैबलेट

एनासिन नाम की एक टैबलेट आती थी जिसके बारे में इसे बनाने वाली कम्पनी दावा करती थी कि बुखार हो, सिर दर्द हो, बदन दर्द हो, जोड़ों का दर्द हो, जुकाम हो, कुछ भी हो, इसे खा लीजिये और आप राहत महसूस करने लगेंगे! श्यामसुन्दर का जाति उन्मूलन का कार्यक्रम भी एक एनासिन की टैबलेट है; उसे किसी भी जगह चेंप दीजिये, वह *प्रतीतिगत तौर पर* ठीक ही दिखेगा! लेकिन ठीक दिखने और ठीक होने में अन्तर होता है। श्यामसुन्दर की प्रतिभा इस बात में निहित है कि आम तौर पर ठीक दिखने वाले छोटे-से उद्धरण में भी उन्होंने अपने भयंकर राजनीतिक विभ्रमों को ठूंस-ठूंस कर भरने में कामयाबी हासिल की है।आगे हम सोदाहरण और सप्रमाण दिखलाएंगे कि ऐसा चमत्कार उन्होंने कैसे किया है।

श्यामसुन्दर हमारे साथी अजय द्वारा श्यामसुन्दर द्वारा एक गोष्ठी में पेश पत्र पर उठाये गये इस प्रश्न पर आते हैं कि उनके पत्र में जाति उन्मूलन के कार्यक्रम के बारे में ज्यादा कुछ नहीं कहा गया है। यह साबित करने के लिए कि श्यामसुन्दर ने जाति उन्मूलन के प्रश्न पर 'संघर्ष की शक्तियों', 'संघर्ष के मुद्दों', 'संघर्ष की प्रक्रिया' और 'उसकी दिशा' के 'पर्याप्त संकेत' अपने पत्र में दिये हैं, अपने उक्त पत्र से निम्न पंक्तियों को उद्धृत करते हैं:

"हम समझते हें कि देशभर में दलित समुदाय के लोग विभिन्न स्तरों पर पूंजीवादी संसदीय राजनीति के मोह से मुक्त होकर, *युक्तितर्क पर आधारित वैज्ञानिक विचारधारा के आधार पर* अपने ऐसे संगठन बनाएं जो जनवाद के लिए लड़ें, यानी ब्राह्मणवादी-हिन्दुत्ववादी विचारधारा, हिन्दू देवी-देवताओं और अवतारों के प्रभाव से अपने को मुक्त करने का संघर्ष चलाएं; हिन्दुत्ववादी शक्तियों के हमलों के खिलाफ संगठित होकर लड़ाई लड़ें और इस लड़ाई में अन्य जातियों के तमाम समानता के पक्षधर मजदूरों-मेहनतकशों को, मज़दूर यूनियनों को अपने साथ जोड़ें तथा गैर-दलितों के अन्य भरोसेमन्द संगठनों के साथ मोर्चा कायम करें ताकि जाति उन्मूलन, सामाजिक अत्याचार और साथ ही साथ आर्थिक शोषण के विरुद्ध लड़ाई को व्यापक रूप दिया जा सके। *बाबा साहब ने भी कहा था कि दलितों के दो शत्रु हैं: ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद। जन संघर्ष मंच हरियाणा इस प्रकार की लड़ाई और एक्के के लिए पहले से ही प्रयासशील और संघर्षरत है।*" (ज़ोर हमारा)

पहली बात, यह जाति उन्मूलन का कोई कार्यक्रम नहीं है, बल्कि जाति उन्मूलन के कार्यक्रम के विषय में कुछ सामान्य बातें हैं, और वे भी ग़लतियों से भरपूर हैं, जैसा कि हम आगे दिखलाएंगे। दूसरी बात, दलित समुदाय 'वैज्ञानिक विचारधारा के आधार पर अपने संगठन' बनाएं, इसका क्या अर्थ है? *यदि यह विचारधारा पर बनने वाले संगठन होंगे, तो जाहिर है कि वे जनसंगठन नहीं होंगे, बल्कि पार्टी संगठन होंगे। इसके अलावा, यदि ये संगठन 'वैज्ञानिक विचारधारा' के आधार पर बनेंगे, तो वे कम्युनिस्ट पार्टी या कम्युनिस्ट पार्टी के पार्टी संगठन होंगे, क्योंकि मार्क्सवाद-लेनिनवाद ही वैज्ञानिक विचारधारा है; बशर्ते कि श्यामसुन्दर मार्क्सवाद के अतिरिक्त भी किसी विचारधारा को वैज्ञानिक न मानते हों; जिसका अर्थ होगा दो विचारधाराओं को वैज्ञानिक मानना, या दो विज्ञानों, या दो सही विश्व दृष्टिकोणों की बात करना। जैसाकि हम जानते हैं कि ऐसा द्वैतवाद आपको मूर्खतापूर्ण नतीजों पर ले जायेगा; यह मार्क्स, एंगेल्स, प्लेखानोव, लेनिन और माओ ने स्पष्ट तौर पर दिखलाया है। जब आपको मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्तों के बारे में न पता हो, तो आप ऐसी ही ग़लतियां करते हैं। श्यामसुन्दर को यह पता होना चाहिए कि जनसंगठन साझा न्यूनतम कार्यक्रम पर बनते हैं, विचारधारा पर नहीं।* यदि वे दलितों के जनसंगठन की बात कर रहे हैं, तो वे साझा न्यूनतम कार्यक्रम पर बनेंगे और साझा न्यूनतम कार्यक्रम के आधार पर ही बनने चाहिए; यदि ऐसा नहीं होता तो वे कम्युनिस्ट पार्टी के पार्टी संगठन या किसी अन्य राजनीतिक पार्टी की बात कर रहे हैं,

जिस सूरत में वे राजनीतिक वर्ग संगठन होंगे, न कि जाति-आधारित संगठन। यदि वे किसी अन्य वर्ग के राजनीतिक संगठन हैं, तो वे 'युक्तितर्क पर आधारित वैज्ञानिक विचारधारा पर आधारित' नहीं होंगे! *आप देख सकते हैं कि जिस पैराग्राफ को श्यामसुन्दर अपने जाति उन्मूलन के कार्यक्रम की आम दिशा के तौर पर पेश कर रहे हैं, उसकी पहली पंक्ति में ही भयंकर राजनीतिक विभ्रम है, क्योंकि पार्टी संगठन और जन संगठन के लेनिनवादी सिद्धान्तों के बारे में श्यामसुन्दर की समझदारी का डिब्बा गोल है।*

दूसरी बात, *यह पूरा पैराग्राफ इस चीज़ की बात कर रहा है कि दलित जनसमुदायों को क्या करना चाहिए, न कि इस बारे में बात कर रहा है कि कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को जाति उन्मूलन के लिए क्या कार्यक्रम लेना चाहिए। इसलिए यह किसी कम्युनिस्ट संगठन का जाति उन्मूलन का कार्यक्रम नहीं है, बल्कि किसी ऊंची कुर्सी पर बैठकर दलित जनसमुदायों को दी गयी सलाह व नसीहतें हैं। वैसे भी श्यामसुन्दर की यह आदत है कि अपने निहायत मूर्खतापूर्ण प्रवचनों को देने के लिए भी वह काफी ऊंची कुर्सी का चुनाव करते हैं, जहां से वे 'संघर्ष की प्रक्रिया', 'संघर्ष की आम दिशा' आदि का प्रतिपादन कर डालते हैं! लेकिन अफसोस कि उन्हें पता ही नहीं है कि जाति उन्मूलन के कम्युनिस्ट कार्यक्रम का मतलब होता है एक ऐसा कार्यक्रम जो जाति उन्मूलन के प्रश्न पर कम्युनिस्टों को रणनीति, आम रणकौशल और ठोस कार्रवाइयों के बारे में बताता हो, न कि वामपंथी बाबाजी का प्रवचन। बल्कि कहा जा सकता है कि उन्हें कम्युनिस्ट अर्थों और बोध में 'कार्यक्रम' शब्द का अर्थ ही नहीं पता है।*

इसके बाद अन्त में उन्होंने फिर से डा. अम्बेडकर के तुष्टिकरण का प्रयास करते हुए उनकी एक उक्ति पेश की है। *यह सच है कि 'इण्डिपेण्डेण्ट लेबर पार्टी' के कार्यक्रम में अम्बेडकर ने पूंजीवाद और ब्राह्मणवाद को दो शत्रु बताया था, लेकिन उन्होंने इसे दलितों का दो शत्रु नहीं बताया था। उन्होंने इन्हें श्रमिक वर्ग का दो शत्रु बताया था और आई. एल. पी. के पूरे कार्यक्रम में दलितों का जिक्र चन्देक बार ही हुआ है और वह भी एक मज़दूर के रूप में। दूसरी बात यह है कि जब अम्बेडकर पूंजीवाद को दुश्मन बताते हैं, तो वे महज़ अनियोजित निजी पूंजीवाद की बात कर रहे हैं, न कि पूंजीवाद के विकल्प के तौर पर समाजवादी व्यवस्था की।* वे अपने राजकीय पूंजीवाद के कार्यक्रम को 'राजकीय समाजवाद' का कार्यक्रम बताते हैं; कोई भी मार्क्सवादी समझता है कि 'राजकीय समाजवाद' जैसी कोई चीज़ नहीं होती। कुंजीभूत उद्योगों का राजकीय मालिकाना पूंजीवादी व्यवस्था में भी सम्भव है, और इसे 'राजकीय समाजवाद' नहीं कहा जा सकता। आई.एल.पी. का पूरा कार्यक्रम फेबियन पार्टी व ब्रिटिश लेबर पार्टी के कार्यक्रमों का एक कीन्सीय मिश्रण था। क्रिस्टोफ़ जेफरलॉट ने दिखलाया है कि आई.एल.पी. का कार्यक्रम कोई पूंजीवाद-विरोधी समाजवादी कार्यक्रम नहीं था; वास्तव में 1937 में अम्बेडकर आई.एल.पी. के इस कार्यक्रम से भी और दूर आते हुए स्पष्ट तौर पर कहते हैं कि भारतीय समाज की बुनियादी इकाई वर्ग नहीं बल्कि जाति है, और जाति का आर्थिक संसाधनों की पहुंच से कोई लेना-देना नहीं है। *ऐसा उन्होंने स्पष्ट करना ज़रूरी क्यों समझा? इसलिए क्योंकि उस समय भी श्यामसुन्दर जैसे अज्ञानी लोग थे, जिन्हें पार्टी के नाम से यह भ्रम हो रहा था कि आई.एल.पी. मार्क्सवाद या कम्युनिज्म की तरफ झुकाव रखती है, या अम्बेडकर का सचेतन रूप से और राजनीतिक अर्थों में वर्गीय राजनीति की ओर कोई झुकाव हो रहा है (क्योंकि अचेतन तौर पर हर राजनीति वर्गीय राजनीति ही होती है)।* इसलिए अम्बेडकर के आई.एल.पी. के कार्यक्रम का समाजवाद और पूंजीवाद-विरोध से कोई लेना-देना नहीं था, बल्कि यह पूंजीवाद के एक विशिष्ट मॉडल यानी अनियोजित निजी पूंजीवाद की आलोचना कर रहा था और एक अन्य विशिष्ट मॉडल राजकीय कल्याणकारी पूंजीवादी मॉडल, की हिमायत कर रहा था, जो कि उस समय भारतीय बुर्जुआजी की ज़रूरत भी थी। *श्यामसुन्दर कह रहे हैं कि जनसंघर्ष मंच हरियाणा अम्बेडकर के उपरोक्त कथन पर पहले से ही अमल करता आ रहा है। अब अगर जनसंघर्ष मंच हरियाणा इसी पर अमल कर रहा है, तो उसका मार्क्सवाद सुभानअल्लाह है और या फिर श्यामसुन्दर ने आई.एल.पी. का कार्यक्रम पढ़ा नहीं है और किसी लेख आदि में अम्बेडकर की इस प्रसिद्ध उक्ति को पढ़कर यहां पर चेंप दिया है! ज्यादा सम्भावना यह है कि श्यामसुन्दर ने डा. अम्बेडकर का लेखन पढ़ा ही नहीं है, जैसा कि हमने ऊपर भी दिखलाया है।*

जैसा कि आप देख सकते हैं कि श्यामसुन्दर को न तो पार्टी संगठन व जनसंगठन का भेद पता है, न कार्यक्रम का अर्थ पता है और न ही अम्बेडकर के विचारों के विषय में पता है। लेकिन आलोचना लिखने का ऐसा ज्वार उनके मस्तिष्क

में उठा कि बिना कुछ पढ़े-लिखे 25 पेज का पोथा लिख दिया, जिसमें इतनी मूर्खताओं को समेट दिया गया है कि उसका खण्डन करने के लिए हमें 70 पेज लिखने पड़ रहे हैं। ऐसा ही होता है। मूर्खता एक पृष्ठ में होती है, लेकिन उसका वैज्ञानिक खण्डन करने में तीन पृष्ठ लिखने पड़ते हैं।

IX. श्यामसुन्दर की "आत्मालोचना"

श्यामसुन्दर ने अन्त में एक "आत्मालोचना" पेश करने का प्रयास किया है। वह कहते हैं कि उन्होंने ग़लती से हमें 'वर्ग अपचयनवादी' बोल दिया था! लेकिन फिर वह बताते हैं कि उनकी इस ग़लती के लिए हम ही जिम्मेदार हैं! क्योंकि हमने ही कुछ अस्पष्ट लिख दिया था, जिसे श्यामसुन्दर ने ग़लत समझ लिया था! ऊपर हम देख सकते हैं कि श्यामसुन्दर की कुछ भी ग़लत समझने की क्षमता का स्पष्ट या अस्पष्ट लेखन से कोई रिश्ता नहीं है। वह स्पष्ट से स्पष्ट लेखन को भी गलत समझने की दैवीय क्षमता से लैस हैं। हमारे जिस लेखन को वह अस्पष्ट कह रहे हैं वह यह है:

"हम दलित जातियों के अलग संगठन बनाने को तो ग़लत मानते हैं, लेकिन कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के पास यदि पर्याप्त ताकत हो तो उन्हें अलग से जाति उन्मूलन मंच अवश्य बनाने चाहिए, जिसमें दलितों के अलावा अन्य जातियों के जनवादी चेतना वाले नागरिक शामिल हों।"

श्यामसुन्दर कहते हैं कि उन्हें *ऐसा लगा* कि हम दलित जातियों द्वारा अलग संगठन बनाये जाने का विरोध करते हैं। लेकिन यदि आप पूरी पंक्ति ही पढ़ लें, तो आपको पता चल जायेगा कि यहां कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के कार्यभार की बात हो रही है। वास्तव में, अगर आप उक्त पेपर के इस पूरे हिस्से को पढ़ें तो किसी भी व्यक्ति को ऐसी ग़लतफहमी पालने के लिए, मूढ़ता की मानवेतर क्षमता से लैस होना होगा! लेकिन श्यामसुन्दर की इस क्षमता पर हमें ज़रा भी शक़ नहीं है। सन्देह के जो थोड़े-बहुत अवशेष 2012 में उनसे हुई बहस के बाद बच गये थे, उनके इस पत्र के बाद वे सारे सन्देह समाप्त हो गये हैं।

अब इस प्रश्न पर आते हैं कि दलित जातियों के स्वत:स्फूर्त रूप से अपने जातिगत पहचान पर आधारित संगठन बनाने पर हमारा क्या रुख़ है। *क्योंकि यहां भी श्यामसुन्दर को हमारी अवस्थिति पूरी तरह से समझ में नहीं आयी है। जाहिर-सी बात है कि यदि दलित अपने अस्मिता-आधारित संगठन स्वत:स्फूर्त रूप से बनाते हैं, तो हम उन्हें इससे रोकने की बात नहीं करते और न ही रोक सकते हैं। लेकिन वस्तुगत तौर पर हम इसे कोई स्वागत-योग्य चीज़ नहीं मानते। यदि हम मानते तो हम स्वयं भी ऐसे अस्मिता-आधारित संगठन बनाने की ही हिमायत करते। इसका यह अर्थ नहीं है कि जब ऐसा कोई संगठन जाति-विरोधी आन्दोलन करता है, तो हम उसमें शामिल नहीं होते या उसका समर्थन नहीं करते। हम उसमें शामिल होते हैं और साथ ही अस्मिता-आधारित संगठनों की सीमाओं और वस्तुगत तौर पर उनकी नकारात्मक भूमिका के विषय में राजनीतिक प्रचार व शिक्षण-प्रशिक्षण का कार्य भी करते हैं।* मिसाल के तौर पर, हमारा संगठन बाकायदा 'आज़ादी कूच' में शामिल हुआ, लेकिन साथ ही हमने अस्मिता-आधारित जाति उन्मूलन आन्दोलन की आलोचना रखते हुए एक लेख भी लिखा और उसे इस आन्दोलन के तमाम भागीदारों को पढ़ने के लिए दिया। अब अगर इसके बारे में भी एक स्वनामधन्य वामपंथी को बताना पड़ रहा है कि अस्मिता आधारित संगठन क्यों नहीं बनाने चाहिए, तो यह ऐसे वामपंथी के मानसिक दीवालियापन के बारे में भी काफी-कुछ बताता है। दमित समुदायों द्वारा अपने अस्मिता-आधारित संगठन बनाने के बारे में सामान्य राजनीतिक स्तर पर वही तर्क लागू होता है जो हर प्रकार के अस्मितावादी संगठन और राजनीति पर लागू होता है।

*अस्मिता की राजनीति और अस्मिता पर आधारित संगठन क्यों वस्तुगत तौर पर एक नकारात्मक भूमिका निभाते हैं? क्योंकि अस्मितावादी राजनीति और संगठन का मूल तर्क होता है अन्यकरण (*othering*)। जैसे ही कोई एक समुदाय अपनी अस्मिता को रेखांकित करता है, वैसे ही, हमेशा वह अन्य अस्मिताओं को भी बल प्रदान करता है क्योंकि अस्मिता का रेखांकन और उसकी सीमाओं की परिभाषा देने की प्रक्रिया में ही अन्यकरण शामिल होता है। जब कोई कहता है 'मैं 'यह' हूं', तो इसमें अन्तर्निहित होता है कि 'मैं 'वह' नहीं हूं'; 'यह' को परिभाषित करने के लिए*

*'वह' की आवश्यकता होती है; 'अस्मि' को परिभाषित करने के लिए 'अन्य' की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि जब हम जाति विनाश की मुहिम में दलित अस्मिता को राजनीति व संगठन की धुरी बनाते हैं, तो यह वस्तुगत तौर पर और ऐतिहासिक तौर पर नुकसानदेह होता है और सबसे ज्यादा दमित मेहनतकश दलित आबादी के लिए ही नुकसानदेह होता है।*सामान्य तौर पर और रूपकीय बोध (metaphorical sense) में कहें, जब एक 'दलित स्वाभिमान यात्रा' निकलती है, तो आप अपनी इच्छा से स्वतन्त्र एक ब्राह्मण स्वाभिमान यात्रा की ज़मीन भी तैयार करते हैं, जब आप एक 'दलित अधिकार सम्मेलन' करते हैं, तो आप जाने या अनजाने एक 'जाट अधिकार सम्मेलन' की भी बुनियाद रखते हैं; एक अस्मिता का रेखांकन अन्य अस्मिताओं को सुदृढ़ किये बिना हो ही नहीं सकता है। अस्मितावादी राजनीति व संगठन का यही तर्क होता है। *इसलिए निश्चित तौर पर हम दलित आबादी को अपने जातिगत पहचान पर आधारित संगठन बनाने से रोकने नहीं जाते और न ही रोक सकते हैं; सही राजनीति के अभाव में यह तो समाज में स्वत:स्फूर्त रूप से होने वाली क्रिया और प्रतिक्रिया है; मगर हम निश्चित तौर पर ऐसे आन्दोलनों में एक आलोचनात्मक शिरकत करते हैं और मेहनतकश दलित आबादी व आम मेहनतकश आबादी को यह समझाते हैं कि पहचान की राजनीति में अन्ततः कभी भी दमित व अल्पसंख्यक समुदाय नहीं जीत सकते और यह लड़ाई अन्त में सभी जातियों या पहचानों की मेहनतकश आबादी के लिए नुकसानदेह होती है। इसलिए जहां हमारा यह स्पष्ट मानना है कि कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को तो अस्मिता-आधारित संगठन कतई नहीं बनाने चाहिए, वहीं हमारा यह भी मानना है कि स्वत:स्फूर्त रूप से दमित समुदाय के लोग यदि अस्मिता-आधारित संगठन बनाते हैं, तो हमें उनके साथ एक आलोचनात्मक संवाद स्थापित करके उन्हें पर्सुएड और सहमत करने का प्रयास करना चाहिए कि अपनी दमन-विरोधी रणनीति की धुरी, ज़मीन और रैलीइंग प्वाइण्ट (*rallying point*) अस्मिता को न बनाकर वर्ग को बनाएं। इसी आधार पर हमने वर्ग-आधारित जाति-विरोधी आन्दोलन की हिमायत की है।*

इसका दूसरा अधिक बुनियादी और ऐतिहासिक, सामाजिक और राजनीतिक कारण यह भी है कि अस्मिताएं अपने आप में सामाजिक उत्पीड़न का *लोकेशन* नहीं होतीं, बल्कि वर्ग के क्षण और वर्गीय फ्रेमवर्क में ही वे सामाजिक उत्पीड़न का *लोकेशन* बनती हैं; यही कारण है कि सामाजिक उत्पीड़न का हर-हमेशा एक वर्गीय कोण या पहलू होता है। यह बात जातिगत उत्पीड़न पर भी लागू होती है, जिसके वर्गीय पहलू पर इतना काम हो चुका है और इतने आंकड़े हैं, कि हमें ज्यादा कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए यदि अस्मिता के आधार पर किसी भी प्रकार के दमन व सामाजिक उत्पीड़न के खिलाफ राजनीति व संगठन खड़े किये जाते हैं, तो वे ऐतिहासिक और वस्तुगत तौर पर वर्गीय आन्दोलन को भी हानि पहुंचाते हैं, और उस दमित व उत्पीड़ित समुदाय को भी हानि पहुंचाते हैं, जो कि इस दमन व उत्पीड़न के विरुद्ध अस्मिता के आधार पर लड़ते हैं, चाहे ऐसी राजनीति और संगठन बनाने वाले लोग या बनाने वाली पार्टी ऐसा चाहे या न चाहे। ऐसे में, उनके संघर्ष को उन्हीं के समुदाय के धनिक वर्ग *हाईजैक* भी कर ले जाते हैं और उन आन्दोलनों के चार्टर में से वे मुद्दे गायब हो जाते हैं या सिर्फ प्रतीकात्मक तौर पर रह जाते हैं, जो कि वास्तव में इन समुदायों की मेहनतकतश आबादी को प्रभावित करते हैं। *क्या आज के अस्मितावादी जाति-विरोधी आन्दोलन और तमाम अन्य अस्मितावादी आन्दोलनों के साथ ठीक ऐसा ही नहीं हुआ है*? अस्मितावादी राजनीति का यह स्वाभाविक तर्क है। इन नुक्तों को विस्तार से समझने के लिए इन दो निबन्धों को पढ़ना लाभदायक होगा (निबन्ध 1 - http://www.mazdoorbigul.net/archives/11252, निबन्ध 2 - https://redpolemique.wordpress.com/2018/06/21/marxism-and-the-question-of-identity/) इसमें से एक पेपर अंग्रेज़ी में ही उपलब्ध है, जिसे हम जल्द ही हिन्दी में भी मुहैया करा देंगे। लेकिन फिलहाल सिर्फ हिन्दी वाले उपरोक्त लेख को पढ़कर भी आप श्यामसुन्दर की अवस्थिति की बौद्धिक दरिद्रता को समझ सकते हैं।*शिवदास घोष ने क्या कहा और क्या नहीं कहा, यह सही और ग़लत का पैमाना नहीं है।*

दूसरी बात, यहां कोई दलितों के अपने जातिगत संगठन बनाने के अधिकार होने या न होने की तो बात ही नहीं कर रहा है, जैसा कि श्यामसुन्दर समझते हैं। यहां बात यह हो रही है कि कम्युनिस्ट दृष्टिकोण से क्या सही है और यदि स्वत:स्फूर्त तौर पर भी दलित अपने अस्मिता-आधारित संगठन बनाते हैं तो कम्युनिस्टों को उसके साथ किस प्रकार का आलोचनात्मक सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए।

शिवदास घोष की आलोचना करते हुए श्यामसुन्दर कहते हैं कि वह केवल मज़दूरों व पूंजीपतियों के बीच वर्ग संघर्ष को जानते हैं तथा दलित मुक्ति एवं जाति-उन्मूलन संघर्ष के लिए उनकी सोच में कोई स्थान नहीं है। *यह सूत्रीकरण भी श्यामसुन्दर की दरिद्र समझदारी का एक आईना है। पहली बात तो यह है कि जाति-विरोधी संघर्ष वर्ग संघर्ष का ही एक हिस्सा है, न कि कोई स्वायत्त चीज़। इस बात को समझने के लिए बुण्डवाद पर आप लेनिन की आलोचना को पढ़ सकते हैं और ठोस तौर पर और समकालीन सन्दर्भों में समझने के लिए आप जातिगत उत्पीड़न की सभी घटनाओं के आंकड़ों का अध्ययन भी कर सकते हैं।* दूसरी बात यह है कि श्यामसुन्दर की बात में यह अन्तर्निहित है कि जातिगत उत्पीड़न का विरोध केवल दलित संगठन ही कर सकते हैं, जबकि अब तक के अनुभव स्पष्ट तौर पर दिखलाते हैं कि जातिगत उत्पीड़न का मुकाबला वास्तव में वर्गीय क्रांतिकारी आन्दोलन व वर्ग-आधारित जाति विरोधी संगठन ही कारगर तौर पर कर सकते हैं। शिवदास घोष ने जिस कठमुल्ला अन्दाज़ में अपनी बात कही है और उसमें क्या सही और क्या ग़लत है, यह अलग प्रश्न है। लेकिन उनकी आलोचना करते हुए श्यामसुन्दर जो कह रहे हैं, वह निश्चित तौर पर असन्तुलित और ग़लत अवस्थिति है और वर्ग और जाति के रिश्तों के बारे में उनकी समझदारी के अभाव को ही प्रदर्शित करती है।

बहरहाल, लुब्बेलुबाब यह कि श्यामसुन्दर की उपरोक्त "आत्मालोचना" में कुछ भी आत्मालोचना जैसा नहीं है; उल्टे आत्मालोचना के नाम पर वे पुन: अपनी मूर्खतापूर्ण आलोचना पर ही पहुंच गये हैं और जैसा कि उन्होंने इस पूरे पत्र में किया है, प्रकाण्ड ज्ञानी होने के भ्रम में उन्होंने पूरे आत्मविश्वास के साथ आलोचना पेश करने के नाम भर प्रचण्ड मूर्खताओं, बौनेपन, बचकानेपन और औसतपन का प्रदर्शन ही किया है। यहां 'आलोचना' को इन महाशय ने 'आलू-चना' बना डाला है। *इस पत्र को पढ़कर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद, भारत के इतिहास, जाति व्यवस्था के विशिष्ट इतिहास, हेगेल के दर्शन, रूसी क्रांति के इतिहास, अम्बेडकर की विचारधारा व राजनीति तथा जाति उन्मूलन के समूचे प्रश्न पर उन्हें बुनियादी चीज़ें भी नहीं पता है और बुनियादी स्रोत सामग्री का भी उन्होंने कोई अध्ययन नहीं किया है। ऐसी आलोचना से कुछ सीखा नहीं जा सकता; उल्टे उसकी मूर्खताओं का खण्डन करने में कुछ समय ही खर्च हो जाता है। लेकिन फिर भी, यदि आन्दोलन में ऐसे भोंपू लगातार बज रहे हों, जो कि वज्र मूर्खताओं की सतत् ब्रॉडकास्टिंग कर रहे हों, तो यह मार्क्स के शब्दों में बौद्धिक नैतिकता का प्रश्न बन जाता है और साथ ही राजनीतिक कार्यकर्ताओं के शिक्षण-प्रशिक्षण का प्रश्न बन जाता है, कि इन मूर्खताओं का खण्डन सिलसिलेवार तरीके से और विस्तार से पेश किया जाय।*

(23 जुलाई, 2018)